महावीर-प्रभु की अंतिम देशना

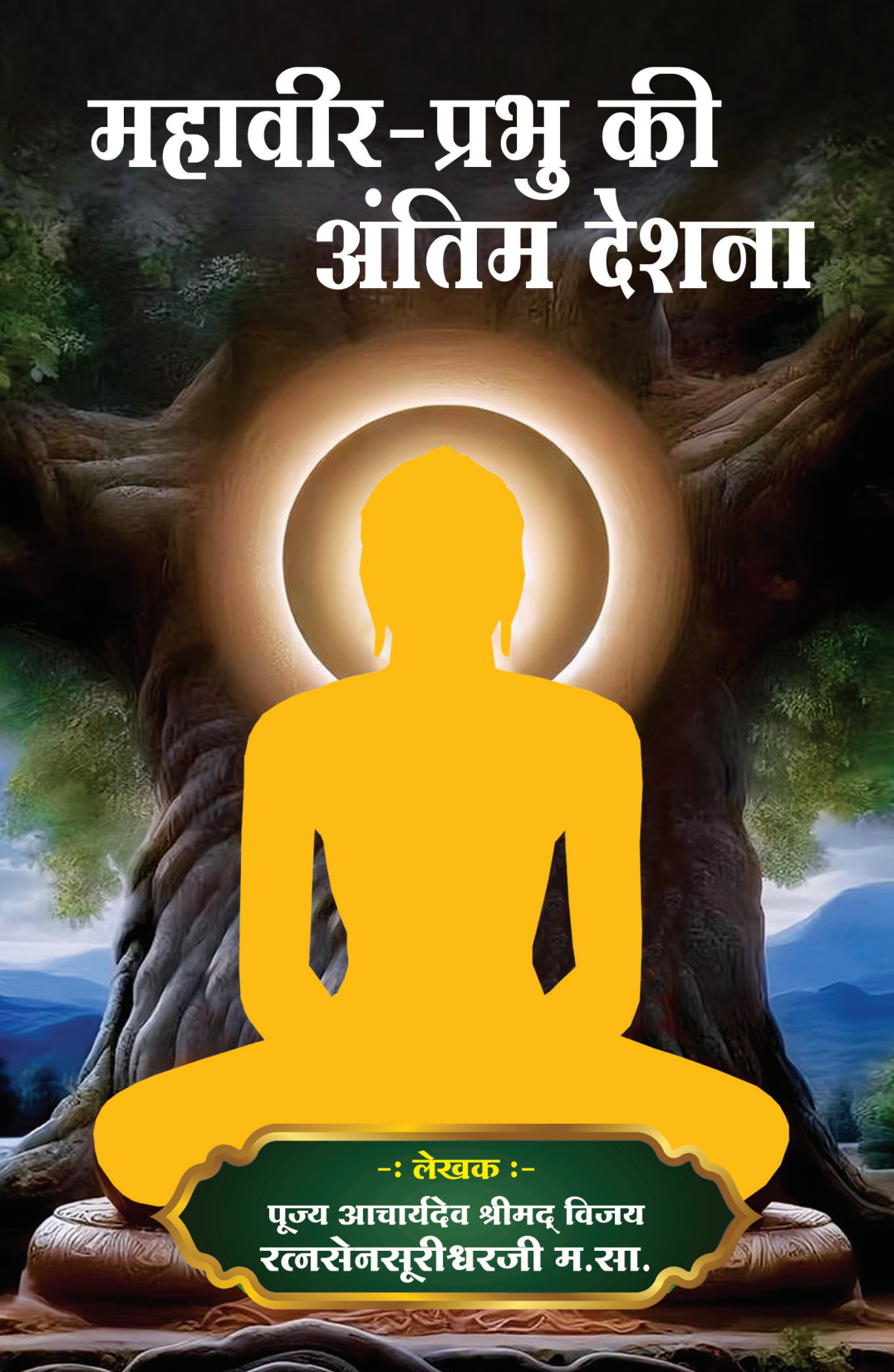

-: लेखक :-
पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय
रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

महावीर-प्रभु की अंतिम देशना

लेखक

महाराष्ट्र देशोद्धारक, दीक्षा युग प्रवर्तक पूज्य आचार्यदेव
श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. के तेजस्वी
शिष्यरत्न भावाचार्य तुल्य सूक्ष्म तत्त्वचिंतक
पूज्य पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य के
चरम शिष्यरत्न जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर पूज्य
आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

संपादक

पू.मु. श्री स्थूलभद्रविजयजी म.सा.

247

-: प्रकाशक :-

दिव्य संदेश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor,
बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट,
कालबादेवी, मुंबई-400 002.
M.8484848451 (only whatsapp)

हिन्दी आवृत्ति : प्रथम • **मूल्य :** 220/- रुपये • **प्रतियाँ :** 1000
विमोचन तिथि : भादो सुदी-3, वि.सं. 2080, दि. 7-9-2024
विमोचन स्थल : पोसालिया, (जिला-सिरोही) राज.
Website : Divyasandesh.online

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता शुल्क - 4000/- रु.

- आप जैन धर्म के रहस्य-जैन इतिहास-जैन तत्त्वज्ञान-जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हों तो आज ही आप दिव्य संदेश प्रकाशन मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। सदस्य बनते ही अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक परम पूज्य ***आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.*** सा. द्वारा लिखित उपलब्ध 10 पुस्तकें दी जाएगी और **अर्हद् दिव्य संदेश** मासिक तथा भविष्य में हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें (Open Book Exam साधु–साध्वी उपयोगी पुस्तके एवं पुनः मुद्रित पुस्तकों को छोडकर) घर बैठे प्राप्त होंगी। आप आजीवन सदस्यता शुल्क मुंबई या बैंगलोर के पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चैक व ड्राफ्ट से भेजें।

प्राप्ति स्थान

1. चेतन हसमुखलालजी मेहता
भायंदर (M.S.)
M. 9867058940

2. प्रवीण गुरुजी
C/o. श्री आत्म कमल लब्धिसूरि जैन पुस्तकालय
श्री आदिनाथ जैन टेंपल,
चिकपेठ, बेंगलोर-560 053.
M. 9036810930

3. राहुल वैद
C/o. अरिहंत मेटल कं.,
4403, लोटन जाट गली,
पहाड़ी धीरज, सदर बाजार,
दिल्ली-110 006.
M. 9810353108

4. चंदन एजेन्सी
607, चीरा बाजार,
मुंबई-400 002.

आजीवन सदस्यता शुल्क
Rs. 4000/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक-प्राप्ति-स्थान :

(1) दिव्य संदेश प्रकाशन
C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग,
विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी,
मुंबई-400 002. Mobile : 8484848451 (only whatsapp)

(2) दिव्य संदेश प्रचारक
प्रकाश बड़ोल्ला, 52, 3rd Cross, शंकरमट रोड, शंकरपुरा,
बैंगलोर-560 004. M. 8971230600

प्रकाशक की कलम से

नमस्कार महामंत्र के बेजोड़ साधक, निःस्पृहमूर्ति बीसवी सदी के महानयोगी पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य श्री के चरम शिष्यरत्न जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. द्वारा हिन्दी भाषा के आलेखित 247 वीं पुस्तक **'महावीर-प्रभु की अंतिम देशना'** का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यंत ही हर्ष हो रहा है ।

हमारे सद्भाग्य से महावीर प्रभु की अंतिम देशना रुप **'उत्तराध्यान सूत्र'** पूर्णरुप से हमें प्राप्त हुआ है । जिस अध्ययन की पूर्णाहूति के बाद वीर प्रभु ने इस भौतिक जगत् को विदाई देकर शाश्वत अजरामर मोक्ष पद प्राप्त किया था ।

2550 वर्ष पूर्व प्रभु वीर के द्वारा उपदिष्ट मोक्षमार्ग आज भी उतना ही हितकारी है ।

साहित्य रसिक पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. ने अथक प्रयत्न करके यह प्रकाशन तैयार किया है, इसके संपादक में **पू.मु. श्री स्थूलभद्रविजयजी म.सा.** ने भी अच्छी मेहनत की हैं उनके श्रम की हम भूरि भूरि अनुमोदना करते है ।

हमे आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि पूज्यश्री द्वारा हिन्दी भाषा में आलेखित पूर्व प्रकाशनों की भांति यह प्रकाशन भी आत्मा में ज्ञान की ज्योति को प्रकाशित करने में सहायक बनेगा ।

लेखक की कलम से...

तीर्थंकरों का कल्प हैं कि वे केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद प्रतिदिन दिन के पहले व चौथे प्रहर में 3-3 घंटे तक निरंतर धर्मदेशना देकर जगत् के जीवों पर महान् उपकार करते हैं ।

उनकी यह धर्मदेशना, निर्वाण के पूर्व पादपोपगमन अनशन तक चलती रहती है ।

आदिनाथ प्रभु ने छह दिन पूर्व तथा 22 तीर्थंकरों ने अपने निर्वाण के 1 मास पूर्व धर्मदेशना को विराम दे दिया था, जब कि महावीर प्रभु ने अपने निर्वाण के पूर्व 48 घंटों तक निरंतर धर्मदेशना दी थी तथा निर्वाण के कुछ समय पूर्व तक देशना चली थी ।

महावीर प्रभु ने अपनी अंतिम धर्मदेशना में पुण्य और पाप के विपाक रुप 55-55 अध्ययन तथा अपृष्ट व्याकरण के 36 अध्ययन कहे थे ।

पुण्य-पाप विपाक के अध्ययन तो आज उपलब्ध नहीं है, परंतु अपृष्ट व्याकरण के 36 अध्ययन आज भी उपलब्ध है जो उत्तराध्ययन सूत्र के रुप में प्रसिद्ध है ।

उत्तर अर्थात् श्रेष्ट !

प्राचीन काल में दीक्षा अंगीकार करने के बाद सर्व प्रथम आचारांग सूत्र का अध्ययन कराया जाता था और उसके बाद उत्तराध्ययन सूत्र का ।

वर्तमान में दीक्षा के बाद तुरंत आवश्यक व दशवैकालिक सूत्रों का अध्ययन कराया जाता है और उसके बाद उत्तराध्ययन सूत्र का ।

वैदिक परंपरा में जो स्थान गीता का, बौद्ध परंपरा में जो स्थान धम्मपद का, ईसाई परंपरा में जो बाईबिल, मुस्लिम परंपरा में जो स्थान में जो स्थान कुरान एवं पारसियों में जो स्थान अवेस्ता का हैं, जैन परंपरा में वही स्थान उत्तराध्ययन सूत्र का है ।

महावीर प्रभु की वाणी का अनुपम संग्रह यह उत्तराध्ययन सूत्र है ।

45 आगमों में उत्तराध्ययन सूत्र की गणना चार मूल सूत्रों में आती है ।

उत्तराध्ययन के 7, 8, 9, 12, 13, 14, 18, 19, 20, 21, 22, 23, 25 व 27 वें अध्ययन में धर्म कथानुयोग की मुख्यता है ।

उत्तराध्ययन के 2, 11, 15, 16, 17, 24, 26, 32 व 35 वे अध्ययन में आचार धर्म का उपदेश होने से चरण करणानुयोग का वर्णन है ।

अन्य अध्ययनों में द्रव्यानुयोग और गणितानुयोग का भी वर्णन है ।

इस प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र को चारों अनुयोगों का संग्रह स्थान भी कह सकते है ।

इन अध्ययनों का उपदेश देने के बाद महावीर प्रभु ने निर्वाण पद प्राप्त किया था ।

उत्तराध्ययन सूत्र पर निर्युक्ति, भाष्य व चूर्णि भी मिलती है ।

उत्तराध्ययन सूत्र पर संस्कृत भाषा में 7 टीकाएं मिलती है ।

(1) शांतिसूरिजी म. ने 11 वीं सदी में शिष्यहिता नाम की टीका रची थी ।

(2) नेमिचंद्रसूरिजी म. ने वि.सं. 1129 में सुख बोधा टीका रची थी ।

(3) जयकीर्तिसूरिजी म. ने 15 वीं सदी में **दीपिका** टीका रची थी ।

(4) कमलसंयम उपाध्याय ने वि.सं. 1544 सर्वार्थसिद्ध टीका रची है ।

(5) भावविजयजी म. वि.सं. 1989 में टीका रची थी ।

(6) लक्ष्मीवल्लभ उपा. ने वि.सं. 1725 में अर्थदीपिका टीका रची थी ।

(7) नयविजयजी म. ने वि.1745 में टीका रची थी ।

कुछ वर्षों से मेरे भी प्रतिवर्ष दीपावली पर्व में उत्तराध्ययन सूत्र पर स्पेश्यिल प्रवचन होते रहते है ।

श्रोताओं की मांग को ध्यान में रखते हुए उत्तराध्ययन सूत्र के 36 अध्ययनों पर हुए सारभूत प्रवचनों का अवतरण तैयार किया है ।

इसके आलेखन में कही भी जिनाज्ञा-विरुद्ध आलेखन हुआ हो तो त्रिविध-त्रिविध मिच्छा मि दुक्कडम् ।

श्रावण पूर्णिमा, 2080
दि. 19-08-2024
जैन उपाश्रय,
पोसालिया,
जिला-सिरोही, राज.

अध्यात्म योगी पूज्यपाद
पंन्यास प्रवर श्री
भद्रंकरविजयजी गणिवर्य
पाद-पद्म-रेणु
रत्नसेनसूरि

परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म. सा. का संक्षिप्त परिचय

गृहस्थ नाम	: राजु (राजमल चोपड़ा)
माता का नाम	: चंपाबाई
पिता का नाम	: छगनराजजी गेनमलजी चोपड़ा
जन्मभूमि	: बाली (राज.)
जन्म तिथि	: भादो सुद-3, संवत् 2014 दि. 16-9-1958
बचपन में धार्मिक अभ्यास	: पंच प्रतिक्रमण-नवस्मरण आदि
ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार	: 18 जून 1974
व्यावहारिक अभ्यास	: 1st year B.Com. (पार्श्वनाथ उम्मेद कॉलेज फालना-राज.)
दीक्षा दाता	: पू.पं. श्री हर्षविजयजी गणिवर्य
गुरुदेव	: अध्यात्मयोगी पू. पंन्यास **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य**
दीक्षा दिन	: माघ शुक्ला 13, संवत् 2033 दि. 2-2-1977
समुदाय	: शासन प्रभावक पू.आ. **श्री रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.**
दीक्षा दिन विशेषता	: भारत भर में लगभग 50 ऊपर दीक्षाएँ
108 मुमुक्षु वरघोड़ा	: 9 जनवरी 1977, मुंबई
दीक्षा स्थल	: न्याति नोहरा-बाली राज.
दीक्षा समय उम्र	: 18 वर्ष
बड़ी दीक्षा	: फाल्गुन शुक्ला 12, संवत् 2033
बड़ी दीक्षा स्थल	: घाणेराव (राज.)
प्रथम चातुर्मास	: संवत् 2033 पाटण पू.पं. श्री हर्षविजयजी के सान्निध्य में

◆ **अभ्यास :** प्रकरण, भाष्य, 6 कर्मग्रंथ, कम्मपयडी, पंचसंग्रह, न्याय, काव्य, कोश, संस्कृत-प्राकृत व्याकरण, संस्कृत-प्राकृत साहित्य वाचन, ज्योतिष, आगम वाचन आदि.

◆ **भाषा बोध :** हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, राजस्थानी, संस्कृत, प्राकृत, मराठी आदि

◆ **प्रथम प्रवचन प्रारंभ :** फागुन सुदी 14, संवत् 2034 पाटण (गुजरात)

◆ **चातुर्मासिक प्रवचन प्रारंभ :** बाली संवत् 2038

◆ **चातुर्मासिक प्रवचन :** बाली (दो बार), पाली (दो बार), रतलाम, अहमदाबाद (ज्ञानमंदिर), पाटण, सुरेन्द्रनगर, रानीगाँव, पिंडवाड़ा, उदयपुर, जामनगर, अहमदाबाद (गिरधरनगर), थाणा, कल्याण, दादर (मुंबई), सायन (मुंबई), धूलिया, कराड़, चिंचवड़, भायंदर, पूना, येरवड़ा, दीपक ज्योति टॉवर, श्रीपाल नगर, कर्जत, भिवंडी (दो बार), कल्याण (दो बार), रोहा, भायंदर, पालीताणा (दो बार) नासिक, बेंगलोर, मैसूर, कोयम्बत्तूर, चैन्नइ, बीजापूर, भायंदर, निगडी, पोसालिया ।

◆ **विहार क्षेत्र :** राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, कर्णाटक तामिलनाडू आदि ।

◆ **पादविहार :** लगभग 47,000 कि.मी. ।

◆ **(छ'री पालित संघ में मार्गदर्शन-प्रवचन) :** बरलूट से शत्रुंजय, गोदन से जैसलमेर, वल्लभीपुर से पालीताणा, लुणावा से राणकपुर पंचतीर्थी

◆ **छ'री पालक निश्रादाता :** उदयपुर से केशरियाजी, गिरधरनगर से शंखेश्वर, धूलिया से नेर, कराड़ से कुंभोज, सोलापुर से बार्शी, भिवंडी से महावीर धाम, कर्जत से मानस मंदिर, हस्तगिरि से शत्रुंजय होकर गिरनार, शत्रुंजय बारह गाऊ, सेवाडी से राणकपूर पंचतीर्थी, कोयम्बत्तूर से अव्वलपुंदरी ।

◆ **प्रथम पुस्तक आलेखन :** **''वात्सल्य के महासागर''** वि.सं.संवत् 2038

◆ **अद्यावधि प्रकाशित पुस्तकें :** 248

◆ **शिष्य-प्रशिष्य : स्व. मु. श्री उदयरत्नविजयजी म.,**
स्व. मुनि श्री केवलरत्नविजयजी म., स्व. मुनि श्री कीर्तिरत्नविजयजी म.,
मुनि श्री प्रशांतरत्नविजयजी म., मुनि श्री शालिभद्रविजयजी म.,
मुनि श्री स्थूलभद्रविजयजी म., स्व. मुनि श्री यशोभद्रविजयजी म.,
मुनि श्री विमलपुण्यविजयजी म., मुनि श्री निर्वाणभद्रविजयजी म.
मुनि श्री महापुण्यविजयजी म.

◆ **उपधान निश्रा दाता :** कुर्ला, धुले, येरवडा, आदीश्वर धाम (दो), कर्जत, विक्रोली, मोहना, पालीताणा (दो बार), सेसली, कीर्तिस्तंभ (घाणेराव), नासिक, सुशीलधाम (बेंगलोर), मैसूर, महावीर धाम (मुंबई), लोढा धाम ।

◆ **गणि पदवी :** (गु.) वैशाख वदी-6, संवत् 2055, दि.7-5-1999 चिंचवड गाँव, पूना.

◆ **पंन्यास पदवी :** (गु.) कार्तिक वदी-5, संवत् 2061, दि.2-12-2004 श्रीपालनगर, मुंबई.

◆ **आचार्य पदवी :** (गु.) पोष वदी-1, संवत् 2067, दि.20-1-2011 थाणा ।

अनुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृ.नं.
1.	उत्तराध्ययन प्रवचन	1
	विनय अध्ययन	3
2.	**परीषह अध्ययन**	**12**
3.	चतुरंगीय अध्ययन	14
4.	**असंस्कृत अध्ययन**	**26**
5.	अकाम-सकाम मरण अध्ययन	29
6.	**क्षुल्लक निर्ग्रंथीय अध्ययन**	**32**
7.	औरभ्रीय अध्ययन	34
8.	**कापिलीय अध्ययन**	**36**
9.	नमि प्रव्रज्या अध्ययन	39
10	**द्रुमपत्रक अध्ययन**	**43**
11	बहुश्रुतपूजा अध्ययन	45
12	**हरिकेशीय अध्ययन**	**47**
13	चित्र संभूतीय अध्ययन	49
14	**इषुकारीय अध्ययन**	**71**
15	भिक्षुलक्षण अध्ययन	74
16	**ब्रह्मचर्य अध्ययन**	**76**

क्र.	विषय	पृ.नं.
17	पापश्रमण अध्ययन	78
18	**संजय अध्ययन**	**81**
19	मृगापुत्रीय अध्ययन	83
20	**महानिर्ग्रंथीय अध्ययन**	**85**
21	समुद्रपालीय अध्ययन	91
22	**रथनेमीय अध्ययन**	**93**
23	केशीगौतमीय अध्ययन	98
24	**प्रवचनमाता अध्ययन**	**103**
25	यज्ञीय अध्ययन	106
26	**सामाचारी अध्ययन**	**108**
27	खलुंकी अध्ययन	110
28	**मोक्षमार्गीय अध्ययन**	**111**
29	सम्यक्त्व पराक्रम अध्ययन	113
30	**तपोमार्ग अध्ययन**	**115**
31	चरणविधि अध्ययन	117
32	**प्रमाद स्थान अध्ययन**	**118**
33	कर्म प्रकृति अध्ययन	120
34	**लेश्या अध्ययन**	**122**
35	अणगार मार्ग अध्ययन	124
36	**जीव-अजीव विभक्ति अध्ययन**	**127**
37	दीपावली-प्रवचन	130

1

उत्तराध्ययन प्रवचन

भारत वैविध्यपूर्ण देश है । यहाँ अनेक धर्म हैं, अनेक जातियाँ हैं, अनेक भाषाएँ हैं, अनेक वेशभूषाएँ हैं, रूप-रंग में भिन्नताएँ हैं । जितनी विविधता इस देश में मिलेगी, उतनी अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगी ।

यहाँ हर शहर में अनेक धर्मों के अपने अपने स्थान हैं । अनेक प्रकार के धार्मिक त्यौहार यहाँ वर्ष भर चलते हैं । बारह महिनों में अनेक पर्व आते हैं ।

जैन दृष्टि से उन पर्वों को दो भागों में विभाजित किया गया है– 1) लौकिक पर्व और 2) लोकोत्तर पर्व ।

लौकिक पर्वों का एक मात्र उद्देश्य अच्छा खाना, अच्छे कपड़े पहिनना, घुमना, फिरना, मिलना-जुलना, आमोद-प्रमोद करना, बस, यही उद्देश्य होता है ।

लोकोत्तर पर्व अर्थात् जो आत्मा को पावन करे, पवित्र करे । सोई हुई चेतना को जागृत करे ।

जहाँ आत्मा के गुण-दोषों का विचार हो, गुणप्राप्ति और दोष-ह्रास का जहाँ ध्येय हो, दोषों के नाश के लिए जहाँ पूरा-पूरा प्रयत्न हो, वे सब लोकोत्तर पर्व कहलाते हैं ।

जैन धर्म के सभी पर्व लोकोत्तर पर्व हैं, क्योंकि वे सभी पर्व आत्मा को जागृत करते हैं, उन पर्वों में मौज मस्ती की नहीं, बल्कि त्याग, तप और संयम की साधना होती है ।

अपने हर पर्व का तप-जप के साथ संबंध जुड़ा हुआ है ।

ज्ञान पंचमी आती है, लोग उपवास करते हैं । नवपद ओली आती

है, आराधक लोग आयंबिल करते हैं । पौष दशमी आती है, आराधक लोग अट्ठम करते हैं । दीपावली आती है और लोग छट्ठ करते हैं ।

भगवान महावीर प्रभु की जीवनयात्रा के साथ छट्ठ तप का घनिष्ट संबंध है ।

प्रभु ने दीक्षा ली तब प्रभु ने छट्ठ तप किया था । प्रभु को केवलज्ञान प्राप्त हुआ, तब भी प्रभु के छट्ठ तप था । छद्मस्थ अवस्था में प्रभु ने 229 छट्ठ किये थे ।

प्रभु मोक्ष में गए, तब भी प्रभु ने छट्ठ किया था ।

दीपावली एक ऐसा पर्व है, जिसे हम भी मनाते हैं और हिंदू लोग भी मनाते हैं, अतः यह लोकोत्तर पर्व भी है और लौकिक पर्व भी है ।

जैन धर्म में दीपावली पर्व का संबंध प्रभु महावीर स्वामी के निर्वाण के साथ है । इस दिन हमें प्रभु के निर्वाण कल्याणक की आराधना करने की है ।

वीर प्रभु ने अपने निर्वाण के पूर्व भरत क्षेत्र के जीवों के हित के लिए निरंतर 16 प्रहर तक देशना दी थी । पुण्य फल को बतानेवाले 55 अध्ययन, पाप फल को बताने वाले 55 अध्ययन, व अपृष्ट व्याकरण के 36 अध्ययन कहकर प्रभु ने मोक्ष प्राप्त किया था ।

अपने सद्भाग्य से वे 36 अध्ययन आज भी विद्यमान हैं । उन अध्ययनों का स्वाध्याय कर आज भी हम प्रभु महावीर की अमृत-वाणी का आस्वाद कर सकते हैं ।

वर्तमान काल में साधुजीवन में बड़ी दीक्षा के बाद **उत्तराध्ययन-सूत्र** के ही योगोद्वहन कराए जाते हैं । उत्तर अर्थात् श्रेष्ठ ।

इन अध्ययनों में साधु के आचारों का श्रेष्ठ वर्णन है । इन 36 अध्ययनों में सबसे पहला अध्ययन है–

1) विनय अध्ययन

इस अध्ययन में धर्म के मूल **विनय गुण** का सुंदर वर्णन है । विनीत कौन कहलाता है और अविनीत कौन कहलाता है, इसका सुंदर वर्णन है-

'आणानिद्देसकरे, गुरुणामुववायकारए ।
इंगियागार संपन्ने, से विणीयत्ति वुच्चइ ।।
आणा निद्देस करे, गुरुणमणुववाय कारए ।
पड़ीणीए असंबुद्धे, अविणीएत्ति वुच्चइ ।।'

मात्र इन दो गाथाओं में विनीत-अविनीत के बहुत ही सुंदर लक्षण बतला दिए हैं ।

''जो गुरु की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करता है, जो गुरु के दृष्टिपथ में रहता है और जो गुरु के ईशारे मात्र को समझकर उसके अनुसार प्रवृत्ति करता है, वह सुविनीत शिष्य कहलाता है ।''

''जो गुरु की आज्ञा की अवज्ञा-हीलना करता है, आज्ञा के भय से जो गुरु से बहुत दूर बैठता है । जो गुरु के दोषों को देखता रहता है तथा जो तत्त्व का ज्ञाता नहीं है, वह अविनीत कहलाता है । जो अविनीत होता है, वह **'कुलवालक'** मुनि की तरह चारित्र से भ्रष्ट होकर दुर्गतिगामी होता है ।

अविनय से पतन

कुलवालक मुनि ने बाल्यवय में दीक्षा ली थी, परंतु यौवनवय में प्रवेश के बाद वे अहंकारी बन गए थे । गुरु के कठोर वचन उनके लिए असह्य हो गए थे । एक बार आवेश में आकर वे अपने गुरु को मारने के लिए तैयार हो गए । उन्होंने गुरु को मारने के लिए पर्वत से पत्थर की शिला लुढ़का दी । गुरुदेव को इसका ख्याल आ गया । वे बाल-बाल बच गए । गुरुदेव ने शाप देते हुए उसे कहा, **''हे दुरात्मन् ! स्त्री के कारण तेरा पतन होगा ।''**

गुरु के वचन को मिथ्या करने के लिए वे गच्छ से निकल गये और नदी के तट पर जाकर कठोर तप करने लगे । उनके तप के प्रभाव से नदी ने अपना प्रवाह बदल दिया, इस कारण वे मुनि कुलवालक कहलाए ।

उस समय कूणिक और चेटक महाराजा के बीच भयंकर युद्ध हुआ । कूणिक ने वैशाली नगरी घेर ली, परंतु वैशाली नगरी में आए मुनिसुव्रतस्वामी के स्तूप के प्रभाव से कूणिक वैशाली नगर को जीत न सका ।

तभी देववाणी हुई **''यदि कुलवालक मुनि मागधिका वेश्या के साथ क्रीड़ा करेगा तो कूणिक वैशाली को जीत सकेगा ।''**

कूणिक ने राजगृही से मागधिका वेश्या को बुलाया और उसे सब बातें समझा दीं ।

कपटी श्राविका बनकर वह वेश्या कुलवालक मुनि के पास गई । उसने बड़े आड़ंबर के साथ मुनि को वंदन किया । फिर गोचरी के लिए विनती करने लगी । निर्दोष भिक्षा जानकर कुलवालक मुनि गोचरी के लिए आए । उस कपटी वेश्या ने मुनि को चूर्णयुक्त मोदक बहोराए । उस चूर्ण के प्रभाव से मुनि को खूब दस्ते लगी । कपटी श्राविका ने उनकी खूब सेवा की । वेश्या के सुकोमल कर-स्पर्श आदि से मुनि चारित्र से भ्रष्ट बने । वेश्या उन्हें लेकर कूणिक के पास आई ।

कूणिक ने कहा, **''किसी भी उपाय से इस वैशाली नगरी का नाश होना चाहिये ।''**

कूणिक को आश्वासन देकर नैमित्तिक का वेष धारणकर कुलवालक मुनि नगर में गए । लोगों ने उन्हें पूछा, **''इस नगरी का घेराव कब दूर होगा ?''** उन्होंने कहा, **''जब तुम नगर में रहे मुनिसुव्रतस्वामी के स्तूप को दूर करोगे तब यह नगर भयमुक्त हो जाएगा ।''**

नैमित्तिक की यह बात सुनकर लोगों ने उस स्तूप को तोड़ ड़ाला । उसके बाद कूणिक ने उस नगरी पर हमला कर उसे अपने अधिकार में कर लिया ।

इस प्रकार अविनीत होने से कुलवालक मुनि का घोर पतन हुआ ।

जिस प्रकार घोडा गाडी में रहा घोडा यदि उसके मालिक के प्रति वफादार है, मालिक के ईशारे को समझकर उसे गन्तव्य स्थल पर पहुँचाने में सहायक बनता है, तो मालिक उस पर प्रसन्न रहता है । परंतु यदि घोडा आलसी हो ईशारे को न समझकर मालिक की इच्छा को पूरी न करता हो तो मालिक उसे चाबूक से मारता है । ऐसी परिस्थिति में दोनों को संताप होता है ।

उसी प्रकार शिष्य यदि गुरु को समर्पित है, गुरु की इच्छा का अनुसरण करता है, तो वह गुरु कृपा पात्र बनकर स्व-पर आत्मकल्याण कर सकता है । परंतु यदि शिष्य, गुरु के प्रति समर्पित नहीं हो, तो अडियल घोडे की तरह वह गुरु को भी संताप का ही कारण बनता है ।

अतः विनीत शिष्य को गुरु के ईशारे मात्र को समझकर उनकी प्रसन्नता के अनुरुप आचरण करना चाहिए । श्री दश वैकालिक सूत्र में भी यही प्रेरणा देते हुए कहा है–**गुरु पसाओभिमुहो रमेज्जा ।**

प्रसन्न हुए गुरु विनीत शिष्य को सूत्र–अर्थ और तदुभय का दान देकर अगीतार्थ शिष्य को परम गीतार्थ बनाते है । शिष्य का योगक्षेम करके यावत् अपना स्थान भी प्रदान करते है । भौतिक एवं अध्यात्मिक सभी सिद्धियाँ गुरु कृपा से ही प्राप्त होती है । अतः इस सूत्र में सबसे पहले विनय अध्ययन बताकर शिष्य का परम कर्तव्य बताया ।

सुविनीत के लक्षण :–

1) विनीत शिष्य को शांत होना चाहिए अर्थात् क्रोध नहीं करना चाहिए ।

2) सुविनीत साधु कभी वाचाल नहीं होता है अर्थात् निष्कारण बकवास नहीं करता है ।

3) गुरु के द्वारा कठोर अनुशासन करने पर भी वह क्रोध नहीं करता है ।

4) नहीं पूछने पर मौन रहता है और पूछने पर व्यवस्थित जवाब देता है ।

विनीत शिष्य को प्राप्त होने वाली बारह उपलब्धियाँ :–

1) लोकव्यापी कीर्ति ।

2) धर्माचरण कर्ताओं के लिए आधार भूत होना ।

3) पूज्यवरों की प्रसन्नता ।

4) विनयाचरण से परिचित पूज्यों की प्रसन्नता और प्रचूर श्रुतज्ञान की प्राप्ति ।

5) शास्त्रीय ज्ञान की सम्माननीयता ।

6) सर्व संशय निवृत्ति ।

7) गुरुजनों के मन को रुचिकर ।

8) कर्म सम्पदा की सम्पन्नता ।

9) तपः समाचारी एवं समाधि की संपन्नता ।

10) पंच महाव्रत पालन में महाउद्यम ।

11) देव–गांधर्व–मानव से पूजनीयता ।

12) देह त्याग के पश्चात् सर्वथा मुक्त अथवा महर्द्धिक देव होना ।

अनुशासन के दश सूत्र :–

1) गुरुजनों के समीप सदा प्रशांत रहना ।

2) ज्यादा न बोले–वाचाल न बने ।

3) निरर्थक बातें छोड़कर सार्थक पद सीखे ।

4) गुरु के द्वारा अनुशासन करने पर क्रोध न करें ।

5) क्षमा धारण करें ।

6) क्षुद्रजनों के साथ सम्पर्क न करें ।

7) चाण्डालिक कर्म न करे ।

8) अध्ययन काल में अध्ययन करके फिर ध्यान करे ।

9) अधिक न बोले ।

10) कुकृत्य किया हो तो छिपाए नहीं, जैसा हो वैसा गुरु को कहे ।

गुरु की आशातना के कारण :–

1) मन वचन काया से आचार्य के प्रतिकूल आचरण करना ।

2) उनके समीप सटकर बैठना ।

3) उनके आगे या पीछे सट कर या पीठ देकर बैठना ।

4) जंघ से जंघ सटा कर बैठना ।

5) शय्या पर बैठे–बैठे ही उनके आदेश का स्वीकार करना ।

6) दोनो हाथों से शरीर को बांध कर बैठना ।

7) दोनो पैर फैलाकर कर बैठना ।

8) गुरु के बुलाने पर चूप रहना ।

9) एक या अनेक बार बुलाये जाने पर भी बैठे रहना ।

10) अपना आसन छोडकर उनके आदेश को स्वीकार न करना ।

11) आसन पर बैठे–बैठे ही कोई बात गुरु से पूछना 12 प्रश्न पूछते समय गुरु के आसन के पास न आना ।

आशातना त्याग करने के लिए इन बातों का ध्यान रखना चाहिए ।

विनीत शिष्य से क्रोधी गुरु का हृदय परिवर्तन

पृथ्वीतल को पावन करते हुए एक दिन चंद्ररुद्राचार्यजी अपने शिष्य परिवार के साथ उज्जयिनी नगरी के बाहर पधारें। आचार्य भगवंत अपने साध्वाचार में लगे दोषों की शुद्धि के लिए बार बार शिष्यों को प्रेरणा देते रहते थे। शिष्यों की छोटी बडी भूलों को देखकर उन्हें तुरंत गुस्सा आ जाता था।

क्रोध से बचने के लिए वे अलग खंड में बैठना पसंद करते थे।

इसी बीच नव विवाहित श्रेष्ठी पुत्र अपने मित्रों के साथ घुमने के लिए उस उद्यान में आया।

वे सभी मित्र साधु-मंडली के पास आकर उपहास से बोलने लगे, इस मित्र को हम दीक्षा दिलाना चाहते है।

उन मित्रों की उपहास भरी बातों को जानकर किसी भी महात्मा ने उन्हें कुछ भी जवाब नहीं दिया।

महात्माओं के मौन रहने पर उन मित्रों ने बार बार अपनी बात दोहराई।

उन मित्रों के मजाक भरे व्यवहार को देखकर आखिर किसी महात्मा ने कहा, `इसको दीक्षा लेनी है तो उसे हमारे गुरुदेव के पास ले जाए !' दीक्षा देने का अधिकार भी उन्हीं को है।

वे मित्र उस नवविवाहित के साथ चंडरुद्राचार्यजी के खंड में पहुँचे।

वहां जाकर व्यंग से बोले, **'हमारा यह मित्र संसार से उब चूका हैं, अतः इसे दीक्षा दीजिए।'** इस प्रकार 1-2 बार बोलने पर तो आचार्य भगवंत मौन ही रहे, परंतु तीसरी बार पुनः बोले तो तुरंत ही उस नव विवाहित को हाथ से पकडकर अपने दो पांवों के बीच दबोच

दिया और पास में रही राख की कुंडी में से राख लेकर उसके मस्तक का केश लोच करने लगे ।

यह दृश देख सभी मित्र वहां से भाग गए ।

थोडासा केशलोच हो जाने के बाद आचार्य भगवंत ने उस नव विवाहित को ढीला छोड दिया और बोले, **'अब तुम्हें जाना हो तो जा सकते हो ?'**

उस नव विवाहित ने सोचा, **'आचार्य भगवंत ने थोडासा लोच कर ही लिया है तो अब क्यों न पूरा ही लोच करा लूँ ! अब बीच में से मुझे अपने घर नहीं जाना है ।'**

इस प्रकार विचार कर अपने गुरुदेव को कहा, **'भगवंत ! आपने मुझे दीक्षा प्रदान करने के लिए केश लोच प्रारंभ कर ही दिया है तो अब पूरा केश लोच कर दीजिए ।'** अब मुझे दीक्षा ही लेना है ।

आचार्य भगवंत ने उसके दृढ मनोबल को देखकर उसे भागवती-दीक्षा प्रदान की ।

उस नव विवाहित ने गृहस्थ वेष को छोडकर श्रमण वेष धारण किया ।

भावी आपत्ति की आशंका से नूतन दीक्षित ने अपने गुरुदेव को निवेदन करते हुए कहा, **'गुरुदेव ! भव निस्तारिणी भागवती दीक्षा प्रदान कर आपने मुझ रंक पर महान उपकार किया है । आपके इस उपकार के ऋण से कदापि मुक्त नहीं हो सकूंगा ।'** परंतु मेरे माता-पिता को मेरी दीक्षा के समाचार मिलेंगे तो वे आकर यहां कुछ भी उत्पात मचा सकते हैं अतः मेरी आपसे करबद्ध प्रार्थना है कि हम जल्दी ही यहां से विहार कर दे ।

आचार्य भगवंत ने कहा, **'मेरी काया वृद्ध हो चूकी है ! विहार की मुझ में इतनी शक्ति नहीं है ।'**

नूतन दीक्षित ने कहा, **'गुरुदेव ! आप निश्चिंत रहे । आप मेरे कंधे पर बैठ जाइए ।'** मैं आपको उठाकर विहार कर दूंगा ।

नूतन दीक्षित के दृढ मनोबल व उत्साह को देखकर आचार्य भगवंत उसके कंधे पर बैठ गए ।

चंडरुद्राचार्य नूतन-दीक्षित मुनिवर के कंधे पर बैठकर विहार कर रहे थे । शाम का समय होने से धीरे धीरे अंधेरा बढने लगा । अंधेरे के कारण नूतन मुनि को मार्ग बराबर दिखाई नहीं दे रहा था, अतः उबड खाबड मार्ग पर चलते समय नूतन मुनि को तकलीफ हो रही थी । कंटीला व पथरीला मार्ग होने से नूतन मुनि ऊंचे नीचे होते रहते, इस कारण उनके कंधे पर बैठे हुए चंडरुद्राचार्यजी को भी खूब तकलीफ हो रही थी ।

चंडरुद्राचार्यजी का स्वभाव बहुत गर्म था, इस गर्म स्वभाव के कारण वे छोटे छोटे निमित्त को पाकर गुस्स में आ जाते थे, नूतन मुनि अंधेरे में बराबर नहीं चल पा रहे थे, इस कारण चंडरुद्राचार्यजी को खूब गुस्सा आने लगा, इस गुस्से के कारण वे नूतन मुनि के सिर पर हाथ से चोट लगाने लगे । कभी कभी गुस्से में आकर नूतन मुनि के सिर पर दंडे से चोट लगाने लगे ।

क्षमा व समताधारी नूतन मुनि गुरुदेव के ठपके व मार को शांति से सहन कर रहे थे, इस प्रकार गुरु के ठपके व मार को समतापूर्वक सहन करने के कारण उन्हें केवलज्ञान हो गया ।

केवलज्ञान के दिव्य प्रकाश में नूतन मुनि खूब व्यवस्थित चलने लगे ।

शिष्य को व्यवस्थित चलते देख कर गुरुदेव ने सोचा, 'हाँ ! मार पडने से यह ठीक हो गया । पहले बराबर नहीं चलता था, अब व्यवस्थित चल रहा है ।

...परंतु कुछ समय बाद उन्हें शंका पैदा हुई । शिष्य को पूछताछ करने पर पता चला कि शिष्य को तो केवलज्ञान हो गया है ।

'अहो ! मैंने केवली की घोर आशातना कर दी ।'...इतना कहकर वे शिष्य के कंधे पर से नीचे गए और सच्चे दिल से अपने शिष्य से माफी मांगने लगे । **'वत्स ! मेरी भूल हो गई... मुझे माफ कर दो ।'**

सच्चे अन्तर्मन से अपने नूतन शिष्य के पास ज्ञमा याचना करते हुए चंडारुद्राचार्यजी को भी केवलज्ञान हो गया ।

पशु जीवन

गाय, भैंस, कुत्ते व पक्षी आदि प्राणियों में
पिता का कोई संबंध नहीं है ।
माँ का संबंध भी तभी तक होता है ।
जब तक संतान
अपने पाँवों पर खड़े नहीं होते है ।
अपने जीवन-निर्वाह की शक्ति
प्राप्त होते ही माँ का रिश्ता
पूरा हो जाता है ।
अपने स्वार्थ की पूर्ति तक ही
माता-पिता से संबंध रखना,
सिर्फ पशुता ही है ।

2

परीषह अध्ययन

परीसहाणं पविभत्ती, कासवेणं पवेइया ।
तं भे उदाहरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेहमे ।।

काश्यप गोत्रीय भगवान महावीर ने परीषहों का जो स्वरुप बताया हैं, उसे मैं कहूंगा, तुम उसे ध्यानपूर्वक सुनो ।

2) परीषह अध्ययन : इस अध्ययन में महावीर प्रभु ने साधु को सहन करने योग्य 22 परीषहों का वर्णन किया है । इन परीषहों को समतापूर्वक सहन करनेवाला मुनि विपुल कर्मनिर्जरा कर सकता है ।

22 परिषह :–

1) क्षुधा : निर्दोष भिक्षा न मिलने पर अथवा स्वेच्छा से तप द्वारा भूख की पीड़ा प्रसन्नता पूर्वक सहन करना, परंतु लेश भी दुर्ध्यान नहीं करना ।

2. पिपासा : तीव्र प्यास लगने पर भी सचित्त जलपान की इच्छा नहीं करना ।

3. शीत : भयंकर ठंड़ी लगने पर भी अग्नि आदि हिंसात्मक साधनों का उपयोग नहीं करना ।

4. उष्ण : भयंकर गर्मी पड़ने पर भी पंखे आदि की इच्छा नहीं करना ।

5. दंश : मच्छर आदि के ड़ंक को समतापूर्वक सहन करना ।

6. अचेल : वस्त्र जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर भी दीनता नहीं करना ।

7. अरति : प्रतिकूल संयोग खड़े होने पर भी मन में लेश भी अरति नहीं करना ।

8. स्त्री : स्त्री को बंधन समझकर उसके साथ काम-भोग की इच्छा नहीं करना ।

9. चर्या : विहार के कष्टों को समतापूर्वक सहन करना ।

10. नैषेधिक : शरीर के प्रति निर्मम भाव धारणकर आतापना आदि को समतापूर्वक सहन करना ।

11. शय्या : प्रतिकूल बस्ती आदि में लेश भी दीनता नहीं करना ।

12. आक्रोश : कोई व्यक्ति क्रोध करे तो भी गुस्सा नहीं करना ।

13. वध : कोई अज्ञानी व्यक्ति मारपीट करे या तीव्र आवेश में आकर हत्या कर दे तो भी क्रोध नहीं करना ।

14. याचना : संयम साधना के लिए किसी वस्तु की जरूरत हो तो मांगने में संकोच नहीं रखना ।

15. अलाभ : गोचरी आदि के लिए काफी देर तक घूमने पर भी गोचरी न मिले तो भी आकुल-व्याकुल नहीं होना ।

16. रोग : शरीर व्याधिग्रस्त हो जाय तो भी ``मैं कर्म के भार से मुक्त हो रहा हूँ'' मानकर शारीरिक पीड़ा समतापूर्वक सहन करना । जैसे-कैंसर के दर्दी साध्वीजी म. का कथन था, `सारथ बीमार है, रथी आनंद में है ।'

17. तृणस्पर्श : सोते समय घास के तिनके आदि चुभते हों तो भी आकुल-व्याकुल नहीं होना ।

18. मल : अपने शरीर पर लगे मैल या मलिन वस्त्रों को देख मन में आकुल-व्याकुल नहीं होना ।

19. सत्कार : कोई सत्कार-सम्मान करे तो भी मन में खुश नहीं होना ।

20. प्रज्ञा : प्रज्ञा के उत्कर्ष में अभिमान नहीं करना और प्रज्ञा के अपकर्ष में आकुल-व्याकुल नहीं होना ।

21. अज्ञान : ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के कारण ज्ञान नहीं चढ़ता हो, उस समय अन्य कोई तिरस्कार करे तो भी उसे समतापूर्वक सहन करना ।

22. अदर्शन : शास्त्रों के रहस्य समझ में नहीं आए या अन्य दर्शन के चमत्कार प्रत्यक्ष दिखाई दें तो भी सम्यग्दर्शन से विचलित नहीं होना ।

इन परीषहों को समतापूर्वक सहन कर साधु अपने साधना मार्ग में खूब-खूब आगे बढ़ सकता है ।

3 चतुरंगीय अध्ययन

इन अध्ययन में कुल 20 गाथाएँ है ।

संसार में परिभ्रमण कर रही आत्मा को जो चार वस्तुएँ दुर्लभ है, उसका निर्देश करते हुए प्रभु ने कहा है–

'चत्तारि परमगांणि, दुल्लहाणि उ जंतुणो ।
माणुसुत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ।।'

अनादिकाल से अव्यवहार राशि की निगोद में रही आत्मा के लिए सबसे पहले तो व्यवहार राशि में प्रवेश पाना ही कठिन है । जब एक आत्मा व्यवहार राशि में से मोक्ष में जाती है, तब आत्मा की अपनी भवितव्यता से एक आत्मा अव्यवहार राशि में से व्यवहार राशि में आती है । फिर क्रमशः आत्मा एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय चउरिन्द्रिय में हजारों–लाखों भव करते हुए आगे बढती हुई पंचेन्द्रिय अवस्था प्राप्त करती है ।

जैसे–नदी के किनारे पर रहे गोल–मटोल पत्थरों को किसी शिल्पी ने छीनी–हत्थोडा लेकर गोल नहीं बनाए । वे स्वतः ही पानी के बहाव में टकराते–टकराते गोल बने है । वैसे ही अव्यवहार राशि की निगोद में से निकलने के बाद पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय में अनेकविध यातनाओं को सहन करती-करती आत्मा

अकाम निर्जरा से बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय आदि के अनेक भवों को कर पंचेन्द्रिय तिर्यंच आदि अवस्था प्राप्त करती है ।

फिर हिंसक प्राणी के रूप में जन्म लेकर नरक और तिर्यंच भवों को करते हुए किसी पुण्योदय से मनुष्य जन्म की प्राप्ति होती है ।

इस संसार में अनंतानंत आत्माएँ है, जबकि मनुष्य जन्म तो संख्यात आत्माओं को ही प्राप्त हुआ है । यह मानव जन्म तो देवों को भी दुर्लभ है । देवता असंख्य हैं, जबकि मनुष्य तो संख्यात ही हैं । सभी देवताओं को भी मनुष्य–जन्म सुलभ नहीं है ।

भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष और प्रथम-द्वितीय वैमानिक देवलोक के अधिकांश देव भी मरकर एकेन्द्रिय जाति में पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय में चले जाते हैं ।

मानव जन्म–प्राप्ति के बाद वीतरागकथित धर्म का श्रवण अत्यंत दुर्लभ है ।

श्री आवश्यक निर्युक्ति ग्रंथ में धर्म के श्रवण हेतु विघ्नभूत 13 काठीये बताए है–

विचित्रता

बालक जब छोटा होता है, तब अपनी माँ की अनेक रातें बिगाड़ता है । माँ को सोने नहीं देता है, परंतु वो ही बालक जब बड़ा हो जाता है, तब अपनी वृद्ध माँ के लिए एक रात भी बिगाड़ने के लिए तैयार नहीं रहता है । अपनी माँ के लिए एक रात का जागरण भी उसे भारी लगता है ।

धर्म श्रवण में बाधक तत्त्व

आलस्स मोहवन्ना, थंभा कोहा पमाय किवणत्ता ।
भय सोगा अन्नाणा, वक्खेव कुठहला रमणा ।।
एएहिं कारणेहिं लद्धूण सुदुल्ललहं पि माणुस्सं ।
न लहइ सुहं हिहकरिं, संसारुत्तारिणिं जीवो ।।

प्रभु की वह सब देशना तो शब्दस्थ नहीं बनी है, परंतु प्रभु ने अपने निर्वाण के पूर्व जो 16 प्रहर तक धर्मदेशना दी थी, वह धर्मदेशना **'उत्तराध्ययन'** सूत्र के रूप में आज भी उपलब्ध है ।

प्रभु ने कहा, `यद्यपि इस विराट् विश्व में जीवात्मा को मानव भव की प्राप्ति होना अत्यंत ही दुर्लभ है, फिर भी इस जीवन की प्राप्ति होने के बाद भी अधिकांश जीव इस अमूल्य जीवन को ऐसे ही हार जाते हैं । इस जीवन से साधने योग्य कार्य न कर क्षणिक मौज शौक के साधनों में इस अमूल्य जीवन की अमूल्य क्षणों को खो देते है ।

विरल आत्माएँ ही इस जीवन का पूरा-पूरा लाभ उठा पाती हैं ।

साधना में बाधक उन तत्त्वों को पहिचानने का प्रयत्न और पुरुषार्थ करें और उन्हें जानने के बाद उन तत्त्वों से बचने के लिए भगीरथ प्रयत्न करें । प्रयत्न बिना कोई कार्यसिद्धि होनेवाली नहीं है ।

उपर्युक्त श्लोक में धर्म श्रवण में बाधक 13 बातों का निर्देश किया है ।

(1) आलस्य :-

आलस्य यह मानव के भीतर रहा हुआ भयंकर शत्रु है ।

कार्य को सिद्ध करने के लिए साधन-सामग्री उपलब्ध होने पर भी एक मात्र आलस्य के कारण व्यक्ति कार्यसिद्धि नहीं कर पाता है ।

आलस्य के कारण व्यक्ति उद्यम के लिए अनुकूल सामग्री मिलने पर भी उद्यम नहीं कर पाता है ।

कई व्यक्ति `भवितव्यता' को आगे करके पुरुषार्थ को गौण बना देते हैं ।

`जो होना निश्चित है, वह तो होने ही वाला है तो फिर पुरुषार्थ करने की क्या आवश्यकता है ?' यह तर्क नहीं, लेकिन कुतर्क ही है ।

`भवितव्यता' के द्वारा भी जो कार्य सिद्ध होनेवाला होगा, उसमें पुरुषार्थ की भी अपेक्षा तो रहेगी ही ।

जैन दर्शन की यह स्पष्ट मान्यता है कि जब भी जो भी कार्य सिद्ध होता हैं, उसमें `काल, स्वभाव, भवितव्यता, कर्म और पुरुषार्थ-ये पाँचों कारण काम करते हैं । एक भी कारण के अभाव में कार्यसिद्धि नहीं हो पाती हैं ।

तारक अरिहंत परमात्मा जानते ही थे कि मेरा इस भव में मोक्ष होने वाला है, मेरे मोक्ष को रोकने की ताकत किसी में नहीं है, फिर भी प्रभु ने अपने उस अंतिम भव में भी मोक्ष को पाने के लिए कितना प्रचंड पुरुषार्थ किया था !

12½ वर्षों की घोर साधना के बाद ही प्रभु को मोक्ष प्राप्त हुआ था ।

अपने भीतर रहा, `आलस्य' हमें साधना में अंतराय पैदा करता है ।

सिंह जंगल का राजा कहलाता है । खूब शक्तिशाली कहलाता है, परंतु उसे भी अपना पेट भरने के लिए पुरुषार्थ तो करना ही पड़ता है ।

सोए हुए सिंह के मुँह में कोई मृग आकर प्रवेश नहीं करता है ।

`पुरुषार्थ से ही कार्यसिद्धि होती है, इच्छा मात्र से नहीं !'

अपने कार्य को `कल' के भरोसे कौन छोड़ सकता है, जिसे यह पूर्ण विश्वास हो कि आज मेरी मौत नहीं होनेवाली हैं ।

धर्म श्रवण में आलस्य अच्छा नहीं है । धर्म प्रवृत्ति में तो खूब उत्साही बनना चाहिए ।

(2) मोह : मोह तो आत्मा का भयंकर शत्रु है । आत्मा को इस संसार में भटकानेवाला मोह ही है । राग और द्वेष ये दोनों मोह की संताने हैं ।

मोह आत्मा को भ्रमित करता है । मोह के कारण ही जो सुख के साधन हैं, वे दुःख के साधन लगते हैं और जो दुःख के साधन हैं, वे सुख के साधन लगते हैं ।

संसार के भौतिक सुख जो क्षणिक हैं, त्याज्य हैं, वे शाश्वत लगते हैं-उपादेय लगते हैं ।

'अहं ममेति मंत्रोऽयं मोहस्य जगदान्ध्यकृत् !' जगत् के जीवों को अंध बनाने वाले मोह राजा का यह मंत्र हैं-'अहंकार और ममकार ।'

अहंकार और ममकार के कारण जगत् के सभी जीव मोहांध बने हुए हैं ।

अहंकार अर्थात् अभिमान !

ममकार अर्थात् ममत्व भाव !

जगत् के बाह्य जड़ पदार्थ कभी अपने हुए नहीं हैं, फिर भी उन पदार्थों को अपना मानना यह झूठा ममत्व है ।

इस ममत्व भाव के कारण ही जीवात्मा उन जड़ पदार्थों का स्वामित्व प्राप्त करने के लिए रात और दिन प्रयत्न करती रहती है । उन जड़ पदार्थों के संग्रह में वह खुश होती है । उन पदार्थों की वृद्धि में वह आनंदित होती है । उन जड़ पदार्थों को पाने के लिए वह भयंकर युद्ध भी खेलती है ।

3. अवज्ञा

अवज्ञा अर्थात् अनादर भाव ।

जिसके दिल में जिस व्यक्ति के प्रति आदरभाव होता है, वह उसकी बात आसानी से मान लेता है, परंतु हृदय में आदर भाव नहीं हो तो हितकारी बात को भी मानने के लिए मन तैयार नहीं हो पाता है ।

हृदय में आदर भाव तो उस जामन (छाछ की बूंदों) की भाँति है जो दूध को दही में बदल देता है, जब कि हृदय में रहा अनादर भाव तो तेजाब की भाँति है, जो दूध को फाड़ ही देता है ।

थोड़ीसी छाछ के संपर्क से दूध, दही में बदल जाता है। बस, हृदय में देव-गुरु-धर्म के प्रति आदर-बहुमान भाव हो तो वह आत्मा, आत्म-विकास के मार्ग में एकदम स्थिर हो जाती है।

जिस प्रकार दही जमने पर, दूध की अपेक्षा ठोस हो जाता है। बस, हृदय में रहा आदरभाव जीवात्मा को धर्ममार्ग में एकदम स्थिर कर देता है।

जिसके दिल में अपने गुरुदेव के प्रति पूर्ण आदर भाव होगा, वही व्यक्ति गुरुदेव की अमृतवाणी का श्रवण करने के लिए लालायित बनेगा, परंतु जिसके दिल में अपने उपकारी गुरुदेव के प्रति आदर भाव ही नहीं है, तो उसे जिनवाणी-श्रवण में रस कहाँ से आएगा ?

4. अभिमान

फुटबॉल की भाँति जिसके भीतर अभिमान की हवा भरी होती है, वह व्यक्ति कभी किसी को झुक नहीं सकता।

देव-गुरु के चरणों में झुकने में अभिमान भी बाधक बनता है। अभिमानी को झुकने में शर्म का अनुभव होता है।

चार गतियों में 1-1 कषाय की प्रधानता है। नरक के जीवों में क्रोध ज्यादा होता है, जब कि मनुष्य में मान कषाय खूब होता है। तिर्यंच में माया और देव में लोभ कषाय की प्रधानता है।

विनय गुण को धर्म का मूल कहा है। नम्र व्यक्ति ही अपने जीवन में धर्म को प्राप्त कर सकता है। जो नम्र नहीं है-सुविनीत नहीं है, वह व्यक्ति न तो धर्म प्राप्त कर सकता है और न ही धर्म की आराधना कर सकता है।

कामविजेता बनने के फलस्वरूप जिनका नाम 84-84 चौबीसी तक अमर रहेगा ऐसे स्थूलभद्र महामुनि भी दर्प को नहीं जीत सके।

जैन शासन के सर्वोपरि महामंत्र में भी सबसे पहला पद `नमो' पद ही है। `नमो' अर्थात् नमस्कार भाव की प्राप्ति से ही जीवन में धर्म का प्रवेश होता है।

जो व्यक्ति नम्र नहीं है, वह धर्म श्रवण नहीं कर सकता ।

जो झुकता है वह पाता है ।

जो घड़ा झुकता है, वो ही घडा नदी में से भरकर बाहर आता है ।

जिस प्रकार चुंबक अपने आसपास में रहे लोहकणों को अपनी ओर खींच लेता है, उसी प्रकार विनय गुण सभी गुणों को अपनी ओर खींच लेता है ।

5. क्रोध

आग का एक ही काम है-जो है उसे नष्ट करना ! क्रोध भी यही काम करता है । जीवन में जो आराधना-साधना की हो, उसे नष्ट कर देता है । इतना ही नहीं, क्रोध धर्म-श्रवण में बाधक है ।

जिस प्रकार घास का तिनका जल्दी सुलग जाता है, उसी प्रकार क्रोधी व्यक्ति भी शीघ्र गर्म हो जाता है ।

क्रोध में भाषा का नियंत्रण नहीं रहता है । नहीं बोलने योग्य शब्द बोल दिए जाते हैं और फिर लंबे समय तक पछताना पड़ता है ।

कई बार तो आवेश में आकर ऐसे शब्द बोल देता है कि जीवन भर के लिए संबंध टूट जाते हैं ।

आत्मसाधना के लिए तो दिमाग शांत चाहिए, जबकि क्रोधी व्यक्ति का दिमाग हमेशा गर्म रहता है ।

क्रोधी स्वभाववाला व्यक्ति दूसरे के हितोपदेश को जल्दी स्वीकार नहीं कर पाता है ।

6. प्रमाद

आत्मसाधना के मार्ग में आगे बढ़ने में प्रमाद भी भयंकर शत्रु है ।

प्रमादी व्यक्ति अपने जीवन में धर्मसाधना नहीं कर पाता है ।

प्रमाद में व्यक्ति अपना अमूल्य समय व्यर्थ ही गँवा देता है ।

प्रमाद के मुख्य 5 भेद हैं-

(1) मद्य (2) विषय (3) कषाय (4) निद्रा (5) विकथा ।

ठीक ही कहा हैं–

आहार और निद्रा बढ़ाने से बढ़ते हैं और घटाने से घटते हैं ।

दर्शनावरणीय कर्म के उदय के कारण नींद आती है, फिर भी प्रयत्न द्वारा उसे घटाया जा सकता है ।

निद्रा रूपी प्रमाद के अधीन बने हुए चौदह-पूर्वधर महर्षि भी अनंतकाल के लिए निगोद में चले जाते हैं तो हे जीव ! तुम्हारी क्या हालत होगी, जरा विचार कर !

कई लोग खूब निद्रालु होते हैं, उन्हें खूब नींद आती है । काफी समय बीतने पर भी उठने का नाम ही नहीं लेते हैं । प्रवचन आदि में भी उन्हें नींद आती रहती है ।

7. कृपणता

कृपणता अर्थात् भीतरी दरिद्रता । कृपणता दान में बाधक है । कृपण व्यक्ति के पास चाहे जितनी समृद्धि हो, वह दान नहीं कर पाता है ।

सामान्यतया मनुष्य के 10 प्राण कहे गए हैं, परंतु कृपण व्यक्ति के लिए धन 11 वाँ प्राण होता है । कंजूस व्यक्ति किसी भी हालत में धन का दान नहीं कर पाता है । दान देना, उसके लिए मरने बराबर होता है ।

धर्म की सबसे पहली सीढ़ी ही दान है । दान के लिए तो उदारता चाहिए । उदारता होगी तो गरीब व्यक्ति भी दान कर देगा और उदारता नहीं होगी तो धन से समृद्ध व्यक्ति भी दान नहीं कर पाता है ।

कृपण व्यक्ति जिनवाणी श्रवण से दूर ही रहता है, क्योंकि उसे यह भय रहता है कि यदि मैं व्याख्यान में जाऊंगा तो वहाँ दान की बात आएगी और दान की बात आई तो मुझे कुछ देना पड़ेगा ।

8. भय

भय संज्ञा से ग्रस्त व्यक्ति भी धर्म श्रवण नहीं कर पाता है ।

संसार में 7 प्रकार के भय रहे हुए हैं ।

(1) इहलोक भय : मनुष्य को मनुष्य से भय ।

(2) परलोक भय : मनुष्य को तिर्यंच आदि से भय ।

(3) आदान भय : चोरी लूट आदि का भय ।

(4) अकस्मात भय : दुर्घटना आदि का भय ।

(5) रोग भय : शारीरिक मानसिक रोगों का भय ।

(6) अपयश भय : अपकीर्ति आदि का भय ।

(7) मरणभय : अचानक मृत्यु के आगमन का भय ।

संसारी जीवों को कोई-न-कोई भय सताता रहता है ।

भय का प्रसंग नहीं हो, भय का वातावरण भी नहीं हो, फिर भी कई व्यक्ति भय मोहनीय कर्म के उदय के कारण सतत भयभीत रहते हैं ।

जो मनुष्य भयभीत है, वह भी शांति से न तो धर्म का श्रवण कर पाता है और न ही धर्म का आचरण !

उपाश्रय में आने पर भी उसे यह भय रहता है कि पीछे घर में कुछ हो गया तो ! डर के मारे वह धर्म स्थान में आता ही नहीं है अथवा आए तो भी शांति से बैठ नहीं सकता है ।

जिस आत्मा ने सच्चे दिल से प्रभु की शरण स्वीकार कर ली हो, वह आत्मा सदैव निर्भय रहती है ।

लोगों के इतना-इतना समझाने पर भी सुदर्शन सेठ निर्भय था । उसे किसी का भय नहीं था । क्योंकि उसे आत्म-विश्वास था, मैंने प्रभु महावीर की शरण स्वीकार की है, मुझे भय किस बात का ?

हम बोलते जरूर हैं-'अभयदयाणं' अर्थात् प्रभु अभय के दाता हैं, जो आत्मा प्रभु की शरण स्वीकार करती है, वह आत्मा निर्भय होती है ।

संभवनाथ प्रभु के स्तवन में पूज्य आनंदघनजी म. ने ठीक ही गाया हैं–

सेवन कारण पहली भूमिका रे,
अभय अखेद अद्वेष !

जो आत्मा प्रभु के प्रति समर्पित बनती है, वह सर्वप्रथम अभय अर्थात् निर्भय बनती है ।

◆ श्रीपालकुँवर 8 कन्याओं के साथ पाणिग्रहण करके उज्जयिणी नगरी में लौटते हैं । विराट् सैन्य के साथ उन्होंने नगरी के चारों ओर पड़ाव डाला है ।

संसार में सभी वस्तुएँ भय से जुड़ी हुई हैं- संसार के विषय-भोगों में रोग का भय है । उत्तम कुल में परिवार के टूटने का भय है ।

धन के साथ राजा आदि का भय है । मान के साथ दीनता का भय है । बल के साथ शत्रु का भय रहा है । रूप के साथ वृद्धावस्था का, शास्त्रज्ञान में वाद का भय, गुण में दुर्जन का भय और काया में यमराज का भय । वैराग्य ही अभय है ।

9. शोक

प्रिय व्यक्ति के वियोग के पीछे मन में जो पीड़ा होती हैं, उसे शोक कहते हैं ।

संसारी जीवों को यह शोक सताता रहता है ।

शोक मोहनीय कर्म के उदय के कारण छोटे-छोटे प्रसंगों में आत्मा शोकग्रस्त बन जाती है ।

शोकातुर आत्मा के चेहरे पर प्रसन्नता नहीं होती है उसका चेहरा हमेशा उतरा हुआ होता है ।

मन शोकग्रस्त बनता है और चित्त की प्रसन्नता समाप्त हो जाती है ।

संसार में जिसका जन्म है, उसकी मृत्यु तो निश्चित है ।

संसार में हर संयोग के साथ वियोग खड़ा है ।

दुनिया में किसी के वियोग में शोक करने से वह व्यक्ति वापस मिलनेवाला तो नहीं है, तो फिर निरर्थक शोक-संताप करने से क्या फायदा ? परंतु अज्ञानी जीव पुत्र आदि के मरण पर खूब शोक करते

हैं और उस शोक के साथ जीवन में थोड़ी बहुत भी धर्म आराधना चलती हो, उसे बंद कर देते हैं ।

किसी स्वजन की मृत्यु हो गई, मंदिर उपाश्रय में जाना बंद कर देंगे और ऐसे ही व्यक्ति संसार की प्रवृत्ति जोरशोर से करते रहते हैं ।

किसी की मृत्यु के समाचार सुनकर तो अपना वैराग्य भाव पुष्ट बनना चाहिए ।

10. अज्ञानता

जो जीव धर्म के माहात्म्य को नहीं जानता हो, वह धर्म श्रवण भी कैसे कर पाएगा ?

किसी भी प्रकार के आचरण के पूर्व उस विषय की स्पष्ट जानकारी होना जरूरी है, परंतु कई जीव सत्य को जानने के लिए प्रयत्नशील ही नहीं होते हैं-इसके परिणाम स्वरूप उनके जीवन में सत्प्रवृत्ति नहीं होती है ।

ठीक ही कहा है–

जो जीव तत्त्व को नहीं जानता है, अजीव तत्त्व को नहीं जानता है, जो जीव और अजीव तत्त्व को नहीं जानता है, वह संयम धर्म का पालन कैसे कर पाएगा ?

धर्म की अज्ञानता में डूबे व्यक्ति को किसी भी प्रकार की तत्त्वपिपासा नहीं होती है, इस कारण वे न तो धर्म का श्रवण करते हैं और न ही धर्म का आचरण ।

11. व्याक्षेप

व्याक्षेप अर्थात् संसार की प्रवृत्तियों में आकुलता-व्याकुलता । जो व्यक्ति भौतिक प्रवृत्तियों में आंकठ डूबा होता है, ऐसा व्यक्ति न तो धर्म का श्रवण कर सकता है और न ही धर्म का आचरण ।

धर्म का श्रवण करने के लिए शांत चित्त चाहिए ! शांत चित्तवाला ही शांति से धर्म का श्रवण कर सकता है और धर्म का आचरण कर सकता है परंतु जिसका मन आकुल-व्याकुल है, वह क्या तो धर्म सुनेगा और क्या ही धर्म का आचरण करेगा !

12. कुतूहलवृत्ति

कई व्यक्तियों के जीवन में कुतूहलवृत्ति होती है-उन्हें कुछ न कुछ नया देखने का शौक होता है, इस कारण उनका अमूल्य समय व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है ।

जिसका मन चंचल होता है, नया-नया देखने या करने का जिसे शौक होता है, वह व्यक्ति भी आसानी से, सरलता से धर्म श्रवण नहीं कर पाता है ।

कई लोग शांति से बैठ ही नहीं पाते हैं, खाली बैठे होंगे तो किसी की मजाक किए बिना नहीं रहेंगे । बंदर को मदिरा पिलाने से जैसे भयंकर नुकसान होता है । बस, उसी प्रकार नई नई चीज को जानने-देखने का शौक रखने से आत्मा को भयंकर नुकसान ही होता है ।

13. मनोरंजन

प्रभु ने धर्म-साधना आत्मरंजन के लिए बतलाई है, जबकि जीवात्मा को आत्मरंजन के बजाय मनोरंजन में ही रस है ।

मनोरंजन की वृत्ति-प्रवृत्ति से मन खुश होता है, परंतु आत्मा को तो भयंकर नुकसान ही होता है ।

टी.वी. आदि साधन हमारी आत्म-संपत्ति को लूटनेवाले भयंकर लुटेरे है ।

आजकल टी.वी. पर क्रिकेट के मैच चलते रहते हैं । देखनेवाले का अमूल्य समय नष्ट होता है ।

कई लोग खाली समय में ताश खेलते हैं । ताश खेलने से हमारा अमूल्य समय नष्ट हो जाता है ।

अपने जीवन में धर्म श्रवण में आगे बढने के लिए इन तेरह शत्रुओं को जीतने के लिए प्रयत्न करना चाहिए ।

4 असंस्कृत अध्ययन

इस अध्ययन में कुल 13 गाथाएँ हैं । इस अध्ययन में आयुष्य की क्षणभंगुरता बतलाकर प्रमाद दोष का त्याग करने के लिए सुंदर प्रेरणा दी है । इसकी पहली गाथा है-

असंखयं जीवियं मा पमायए, जरोवणीयस्स उ नत्थि ताणं ।
एवं वियाणाहि जणे पमत्ते, कन्नू विहिंसा अजिया गहिंति ।।

वीर प्रभु भव्यात्माओं को संबोधित करते हुए कहते हैं- ``मानवजीवन में आयुष्य असंस्कार्य है, अतः बिल्कुल प्रमाद करने जैसा नहीं है ।''

टूटे हुए लकड़ी के पात्र को एरलडायीट के द्वारा आसानी से जोड़ा जा सकता है ।

फटे हुए कपड़े को सिलाई मशीन द्वारा आसानी से सिया जा सकता है ।

टूटे हुए लोहे के टुकड़ों को वेल्डिंग द्वारा जोड़ा जा सकता है । मकान की दीवार में तिराड़ पड़ जाय तो सीमेंट द्वारा उसे भी जोड़ा जा सकता है ।

हॉर्ट में कहीं गड़बड़ हो तो बाय-पास सर्जरी द्वारा उसे ठीक किया जा सकता है ।

अन्य सभी टूटी हुई वस्तुओं को जोड़ना शक्य है, परंतु एक बार आयुष्य टूट जाय तो उसे जोड़ना किसी भी हालत में संभव नहीं है ।

विज्ञान ने आज तक अनेक रोगों के इलाज किए हैं, परंतु मृत्यु के आगे वह भी लाचार है ।

बड़े-बड़े ऑपरेशन करने के पहले ही ड़ॉक्टर आपके सिग्नेचर करा लेते हैं । यह Case Fail हो गया तो उसमें ड़ॉक्टर की कोई जवाबदारी नहीं रहेगी । ड़ॉक्टर भी कहते हैं, **``हम तो अपना प्रयास**

करते हैं, दर्दी का बचना या न बचना यह तो भगवान की मर्जी की बात हैं ।''

आयुष्य की इस क्षणभंगुरता को जानकर प्रमाद का सर्वथा त्याग करना चाहिए और अप्रमत्त भाव से आत्म-साधना कर लेनी चाहिए ।

जीवन की मुख्यतया पांच अवस्थाएँ है– 1) जन्म 2) बाल्यावस्था 3) युवावस्था 4) वृद्धावस्था 5) मृत्यु । कई प्राणी जन्म लेते ही मर जाते है, कई बाल्यावस्था और युवावस्था में चले जाते है । यदि इनमे भी जो बच जाय तो वृद्धावस्था में तो अवश्य ही मरण अपने गले लगाने उपस्थित हो जाती है । तब रोग, शोक, चिंता आदि से व्यक्ति अतिदीन बन जाता है । ऐसी स्थिति में कोई भी शरण नहीं होता है । अपने किये हुए कर्मों की पीड़ा जीवात्मा को स्वयं ही सहन करनी पडती है ।

जैसे चोरी करते हुए पकडे गए किसी चोर को स्वयं ही अपने पापकारी कृत्य की सजा सहनी पडती है । वैसे ही इसलोक और परलोक में किये हुए कर्मों की सजा स्वयं जीवात्मा को ही सहन करनी पडती है ।

व्यापार में व्यापारी जो कुछ भी धन कमाता है, उसमें पत्नी, पुत्र आदि सारा परिवार भागीदारी लेता है । जबकि धन की कमाई में हुए पाप में कोई भी भागीदारी नहीं लेता है । उन पाप कर्मों की सजा जीवात्मा को अकेले ही सहन करनी पडती है ।

जैसे अंधकार में दीपक बुझ जाने के बाद, पहले प्रकाश मे देखा हुआ मार्ग भी नहीं देखे की तरह बन जाता है । वैसे ही अनंत मोहांधकार में जिसका ज्ञान दीपक बुझ गया हो, वह पहले जाने हुए मोक्ष मार्ग को नहीं जान पाता है । अतः जीवन में प्रतिपल भारण्ड पक्षी की तरह अप्रमत्त रहना चाहिए ।

भारण्डपक्षी के एक ही शरीर में दो जीव संयुक्त होते है । दोनों के मिलाकर तीन पैर होते है । यदि उन दोनों की इच्छाएं विपरीत हो जाय, तो दोनों ही मर जाते है । अतः जीवन की आशा में वे सदा अप्रमत्त बनकर रहते है ।

वैसे ही साधना के पथ पर साधक आत्मा को कदम कदम पर दोषों की संभावना रहती है । इनसे बचने के लिए उसे हर पल सावधान बने रहना जरुरी है ।

छंदं निरोहेण उवेइ मोक्खं

इच्छाओं के निरोध से मोक्ष की प्राप्ति होती है । तप पद की पूजा में पू. लब्धिसूरिजी म. ने बहुत ही सुंदर बात की है–

'इच्छा रोधन तप ते भाख्यो,
आगम तेहनो साखीजी !'

इच्छाओं का निरोध करना ही सच्चा तप है । बाह्य तप करते हुए भी यदि मन में खाने की लालसाएं पडी हैं तो वह वास्तव में तप ही नहीं है ।

आहार की लालसाओं को जीतनेवाला ही सच्चा तपस्वी कहलाता है ।

मात्र आहार ही नहीं, हर प्रकार की भौतिक इच्छाओं में से मन को मुक्त करना, यही सच्चा तप है ।

इस तप के सेवन से ही आत्मा अनादि के कर्मबंधन से सर्वथा मुक्त हो सकती है ।

स्व अर्थात् अपनी

छंद अर्थात् इच्छा ।

अपनी इच्छा के अनुसार ही प्रवृत्ति करना-संसार वर्द्धक हैं, जब कि अपनी इच्छाओं को गौणकर प्रभु की इच्छा अर्थात् प्रभु की आज्ञानुसार चलना ही बंधन मुक्ति का मार्ग है ।

आज तक अपनी इच्छा के अनुसार चलकर अपनी आत्मा ने अपना खूब संसार बढाया है ।

5 अकाम-सकाम मरण अध्ययन

जन्म के बाद मरण तो सुनिश्चित है, परंतु मृत्युसमय समाधि मरण हो तो वह जन्म-मरण का अंत ला सकता है, बाकी तो मृत्यु समय की भयंकर वेदना में रही असमाधि, भावी जन्म-मरण को ही बढ़ाती है ।

संति मे य दुवे ठाणा, अक्खाया मारणंतिया ।
अकाममरणं चेव, सकाम मरणं तहा ।।

बालाणं तु अकामं तु, मरणं असइं भवे ।
पंडियाणं सकामं तु, उक्कोसेण सइंभवे ।।

इस अध्ययन में भगवान महावीर प्रभु ने मरण के मुख्य दो प्रकार बतलाए हैं- 1) अकाम मरण और 2) सकाम मरण ।

अकाम मरण

अकाम मरण को बाल मरण भी कहते हैं । बाल मरण असमाधि भाव से युक्त होने के कारण संसार को बढ़ाता है, जबकि सकाम मरण, समाधि भाव से युक्त होता है, अतः आत्मा के भावी संसार का अंत लाता है । समाधिमरण पानेवाली आत्मा अल्प भवों में ही भवबंधन से मुक्त हो जाती है ।

जो लोग कामभोग में अत्यंत आसक्त हैं, असत्यभाषी हैं, हिंसा में तीव्र रुचिवाले हैं, मांस-भक्षी हैं, शराबी हैं, ऐसे जीव वर्तमान में भी दुःखी होते हैं और मरण समय अकाम-मरण प्राप्त कर नरक और तिर्यंच गति में जाकर भी दुःखी होते है ।

उन लोगों को जन्म और मरण के यथार्थ स्वरुप का बोध नहीं होता । इस कारण उनका जीवन भी निरर्थक होता है और मरण भी जन्म–मरण की परंपरा को ही बढ़ाने वाला होता है । वे मरण को भयंकर

मानते हुए उससे घबराते है । मरण के समय, जीवन में किये हुए पाप कर्म के फल स्वरुप पुनर्जन्म में होने वाली दुर्गति के भय से कांप उठते है । उनका मन, शोक, चिन्ता, उद्विग्नता से दुर्ध्यान ग्रस्त हो जाता है । दुर्ध्यान के वश में होकर वे अनिच्छा से मृत्यु प्राप्त करते है ।

मरण के यथार्थ स्वरुप से अनभिज्ञ उनके मरण को अकाम मरण अथवा बालमरण कहा है ।

अकाम मरण के 12 भेद है–

1) वलय मरण – भूख के कारण होने वाला मरण ।

2) वशार्त मरण – इन्द्रिय वश, वेदना वश, कषाय वश और नोकषाय वश होने वाला मरण ।

3) अन्त: शल्य मरण – माया शल्य, निदान शल्य और मिथ्यात्व शल्य अथवा लज्जा, अभिमान आदि कारणों से दोषो की आलोचना किये बिना होने वाला मरण ।

4) तद्भव मरण – वर्तमान भव में जिस गति में है, उसी गति का आयुष्य बांधकर होने वाला मरण ।

5) गिरिपतन मरण – पर्वत से झंपापात करने से होने वाला मरण ।

6) तरु पतन मरण – बड़े वृक्ष के ऊपर से गिरकर होने वाला मरण ।

7) जल प्रवेश मरण – कुए, तालाब, नदी, समुद्र आदि में डुबकर होने वाला मरण ।

8) अग्नि प्रवेश मरण – जलती आग में प्रवेश कर अथवा अपने शरीर पर आग लगाने से होने वाला मरण ।

9) विषभक्षण मरण – जहर खाकर होनेवाला मरण ।

10) शस्त्रावपाटन मरण – शस्त्र के घाव से होने वाला मरण ।

11) वैहानस मरण – फांसी खाकर आत्महत्या से होने वाला मरण ।

12) गृद्धपृष्ट मरण – हाथी आदि मरे हुए पशु के कलेवर में प्रवेश कर अथवा शरीर पर मांस बांधकर चील, गृद्ध आदि द्वारा जीवित शरीर को नोचकर भक्षण से होने वाला मरण ।

इन अकाम मरणों से आत्मा दुर्गति के गर्त में ही डुबती है ।

सकाम मरण

जो जन्म और मरण के यथार्थ स्वरुप को समझता है वह जीवन और मरण में समान दृष्टि वाला होता है । उसे न ही जीवन जीने का मोह होता है, न ही मरण का भय होता है । वह अपने जीवन को तप, त्याग, व्रत, नियम, धर्माचरण से सार्थक करता है और मरण निकट आने पर पहले से ही वीर योद्धा की तरह कषाय और शरीर की संलेखना एवं आलोचना प्रायश्चित्त आदि के द्वारा आत्मशुद्धि करके प्रसन्नता से मरण का स्वीकार करता है । उसका मृत्यु भी महोत्सव बनता है ।

ऐसा मेधावी पुरुष विषय-कषाय से रहित, धर्म की आराधना-साधना में सदैव प्रयत्नशील, मृत्यु समय में शरीर की ममता को छोड़कर अत्यंत समाधिपूर्वक देह का त्याग करता हैं । सकाम मरण के तीन भेद हैं–

1) भक्त परिज्ञा मरण : तीन या चारों प्रकार के आहार का इच्छापूर्वक त्याग करना ।

2) इंगिनी मरण : आहार का त्याग कर निश्चित क्षेत्र से बाहर नहीं निकलना ।

3) पादपोपगमन मरण : चारों प्रकार के आहार का त्याग कर कटे हुए वृक्ष की तरह जीवन के अंतिम क्षणों तक एक ही स्थिति में पड़े रहना ।

इस प्रकार आराधक-साधक आत्मा समाधिपूर्वक देह का त्याग कर अपना आत्मकल्याण करती है ।

6 क्षुल्लक निर्ग्रंथीय अध्ययन

क्षुल्लक अर्थात् साधु । एवं निर्ग्रंथ अर्थात् गांठ का अभाव होना । साधु जीवन परिग्रह रुपी गांठ से रहित होता है । यह गांठ स्थूल और सूक्ष्म अथवा बाह्य और अभ्यंतर रुप दो प्रकार की होती है ।

आवश्यकता से अतिरिक्त वस्तुओं का संग्रह करना, बिना दिये उन पदार्थों को लेना, स्वयं उन पदार्थों को तैयार करवाना आदि स्थूल गांठ है । तथा अविद्या–तत्त्वज्ञान का अभाव, विपरीत मान्यताएँ, सांसारिक सम्बन्धों के प्रति आसक्ति, मोह, माया, कषाय, भोग्य पदार्थो के प्रति मूर्च्छा, स्पृहा, मिथ्यात्व, शरीर के प्रति आसक्ति, प्रमाद, विषयवासना आदि सुक्ष्म गांठें है ।

साधु जीवन का परिपालन करने के लिए इन स्थूल और सूक्ष्म, दोनों प्रकार की गांठ का त्याग करना आवश्यक है । साधु जीवन के स्वीकार के बाद किन–किन रुप में कहाँ–कहाँ से और किस प्रकार से ये गांठें पुनः पैदा हो सकती है, इनसे बचना कितना आवश्यक है, न बचने पर कितना नुकसान होता है, उसका निर्देश इस अध्ययन में किया है ।

17 गाथा वाले इस अध्ययन में पहली पांच गाथा में अविद्या जनित मिथ्यामान्यताओं से बचने का निर्देश किया है । तत्पश्चात् सत्यदृष्टि से सभी प्राणियों को आत्म समान एवं मैत्री भाव से देखकर हिंसा, अदत्तादान, परिग्रह आदि गांठों से दूर रहने का निर्देश छठी, सातवीं गाथा में किया है । आठवीं, नौवीं और दसवीं गाथा में आचरण शुन्य ज्ञानवाद, अक्रियावाद, भाषावाद, विद्यावाद आदि अविद्या जनित मिथ्या मान्यताओं को बताकर, उससे बचने का संकेत दिया है । 11 से 16 वीं गाथा में शरीरासक्ति, विषयाकांक्षा, आवश्यकता से अधिक भोजन–पानी का ग्रहण–सेवन, संग्रह आदि प्रमादों को गांठ के रुप में बताकर उससे

बचने अप्रमत्त रहने का निर्देश किया है । 17 वीं गाथा में इन निर्ग्रंथ सूत्रों को बताने वाले भगवान महावीर का सविशेषण उल्लेख किया है ।

निग्रंथ साधु के विषय में कहा है–

समिक्ख पंड़िए तम्हा, पास जाइ पहे बहु ।
अप्पणा सच्चमेसिज्जा, मेत्तिं भूएसु कप्पए ।।

आत्म–हितेच्छु साधक आत्मा परोपदेश के बिना भी आत्महितकर प्रवृत्ति करती है । ऐसी आत्मा पृथ्वीकाय आदि सभी छह जीव निकाय के जीवों पर अपूर्व मैत्री भाव धारण करती है ।

पुत्र–पत्नी आदि का मोह एकेन्द्रिय जाति में जाने का मार्ग है । अर्थात् जो आत्मा पुत्र आदि पर गाढ़ स्नेह करती है, वह मरकर एकेन्द्रिय जाति में उत्पन्न होती है । अतः पुत्र आदि के ममत्व भाव का त्याग करना चाहिए ।

साधक आत्मा कालाकांक्षी होती है अर्थात् उचित अवसर को जाननेवाली होती है ।

जितने आहार से अपना जीवन–निर्वाह हो सकता हो, उतना ही निर्दोष–आहार ग्रहण करती है ।

भविष्य का विचारकर साधु कभी आहार आदि की सन्निधि नहीं करता है अर्थात् कल के लिए आहार–पानी का संग्रह नहीं करता है ।

साधक आत्मा एषणा समिति के पालन द्वारा निर्दोष आहार की शोध करती है ।

इस प्रकार पवित्र आचारों का पालन करनेवाली आत्मा अल्पभवों में ही भवबंधन से मुक्त हो जाती है ।

7

औरभ्रीय अध्ययन

कुसग्गमेत्ता इमे कामा सन्निरुद्धंमि आउए ।
कस्स हेउं पुराकाउं जोगक्खेमं न संविदे ।।

इस अध्ययन में महावीर प्रभु ने बकरे का दृष्टांत देकर संसार के काम- भोगों की भयंकरता समझाई है । एक कसाई के यहाँ एक गाय व बछड़ा है तथा एक बकरी का बच्चा बकरा भी है । वह कसाई बकरे को हरा-हरा घास खिलाता था, जबकि गाय के बछड़े को सूखा घास खिलाता था । यह देख गाय के बछड़े को ईर्ष्या होती थी । एक बार उसने अपनी माँ को कहा, ``माँ ! माँ ! अपना स्वामी इतना भेद-भाव क्यों रखता है ? वह बछड़े को तो हरा- हरा घास खिलाता है और मुझे बिल्कुल सूखा-सूखा घास देता है ।

माँ ने कहा- बेटा ! चिंता न कर । कुछ ही दिनों में तुझे इसका रहस्य ख्याल में आ जाएगा ।

कुछ दिनों बाद उस कसाई के घर मेहमान आए । तुरंत ही कसाई ने हरा घास खाकर हृष्ट-पुष्ट बने उस बकरे को मौत के घाट उतार दिया और उसके मांस से सभी अतिथियों को मिजबानी दी ।

यह दृश्य बतलाते हुए माँ ने उस बछड़े को कहा, **``बेटा ! उस हरे हरे घास का परिणाम देख लिया न !''** यह दृश्य देख वह बछड़ा एकदम घबरा गया ।

कथानक का उपनय करते हुए भगवान महावीर ने कहा, **``महान् पुण्योदय से श्रमण जीवन प्राप्त हुआ है, परंतु इस जीवन की प्राप्ति के बाद भी जो आहार आदि में अत्यंत आसक्त बन जाते है, उन आत्माओं की दशा उस बकरे की तरह होती है । यहाँ के क्षणिक सुखों**

को भोगकर उन्हें दुर्गति के गर्त में डूब जाना पड़ता है, जहाँ दीर्घकाल तक उन्हें नरक आदि के भयंकर दुःखों को सहना पड़ता है ।''

श्रमण जीवन का मूलाधार काम भोगों की आसक्ति का त्याग करना है । जो व्यक्ति कामभोगों में लुब्ध बन जाता है, वह विषय वासना के क्षणिक सुख में, उसके पीछे छिपे हुए दुर्गति के महा दुःखों का विचार नहीं करता है । केवल वर्तमान दर्शी बन कर मनुष्य जन्म में जो व्यक्ति इन्द्रियों के वश होकर पापाचरण करता है, उसे पुनः मनुष्य जन्म की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है । मनुष्य जन्म की दुर्लभता भोग सुखों के आधार पर नहीं है, परंतु केवल मनुष्य जन्म ही ऐसा है, जिसमें मोक्ष प्राप्ति एवं उसके योग्य आत्म–साधना की जा सकती है । इसलिए मनुष्य जन्म को देवों के दिव्य भोग सुखों की प्राप्ति से भी अति–दुर्लभ कहा है ।

तत्त्वार्थाधिगम की कारिका में सबसे प्रारंभ में ही वाचकवर्य श्री उमास्वातिजी ने वर्तमान दर्शी जीवन जीने वाले जीवों को अधम और अधमाधम के रुप में बताया है ।

जैसे बकरे के बच्चे को हरा घास मिलने पर जो शारीरिक पुष्टि की प्राप्ति हुई, वही उसके मौत का कारण बनी, वैसे ही जो व्यक्ति ऐसा मानते है कि–`खाओ, पीओ और मजा करो'' अथवा `आ भव मीठा–परभव कोणे दीठा' वे उन मौज मजा के कारण ही इस जीवन में भी दुःखी होते है, और परलोक में भी अपार दुःखों को सहन करते है ।

इससे विपरीत जिनकी दृष्टि परलोक और परमलोक के सुखों को देखती है, वे दूर-दर्शी बनकर क्षणिक विषय भोगों की आसक्ति में फँसते नहीं हैं । अणुव्रतों अथवा महाव्रतों के पालन में रत रहकर वे तप, त्याग के माध्यम से अपूर्व कर्म निर्जरा कर लेते हैं । वे प्राप्त हुए मानव जन्म को सफल और सार्थक करते हैं ।

देव दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर वर्तमान दर्शी न बनकर दूर दर्शी बनने की श्रेष्ठ प्रेरणा इस अध्ययन के माध्यम से दी गई है ।

8

कापिलीय अध्ययन

इस अध्ययन में लोभ के कारण होने वाले अनर्थ को बताते हुए कपिल केवली के चरित्र का निरुपण किया है ।

कौशांबी नगरी में प्रसेनजित राजा का काश्यप नाम का ब्राह्मण राजपुरोहित था । उसे कपिल नाम का पुत्र था । कपिल जब छोटा था, तब उसके पिता की मृत्यु हो गई । राजा ने उसे बालक और अपठित मानकर काश्यप के स्थान पर अन्य ब्राह्मण की राज पुरोहित के पद पर नियुक्ति कर दी ।

एक बार जब नया नियुक्त राजपुरोहित आडंबर पूर्वक राजमहल की ओर जा रहा था, तब कपिल की विधवा माँ को पूर्व के अपने वैभव की स्मृति हो आई और वह रोने लगी । माँ को रोती देख कपिल ने उसे रोने का कारण पुछा । तब माँ ने कहा, `पुत्र ! एक समय था जब तुम्हारे पिता इसी प्रकार के ठाठ–बाठ से राजमहल जाते थे, परंतु उनके निधन के बाद तुम्हारी अयोग्यता के कारण यह पद अन्य को दे दिया गया है ।'

माता के मुंह से इस बात को सुनकर कपिल ने कहा–**``माँ ! तू चिंता मत कर, मैं भी पढ़–लिखकर इस पद के योग्य बनूंगा और पुनः अपने पिता के सन्मान को प्राप्त करुंगा ।''**

माता ने कहा– ``परंतु तुझे इस नगर का कोई भी ब्राह्मण, पिता के प्रति ईर्ष्या के कारण विद्या नहीं पढाएगा । अतः यदि तू विद्या पढ़ना चाहता है, तो श्रावस्ती में अपने पिता के घनिष्ट मित्र इन्द्रदत्त उपाध्याय के पास चला जा । वे तुझे विद्या पढ़ाएँगे ।

माता की प्रेरणा और आशीर्वाद लेकर कपिल इन्द्रदत्त उपाध्याय के पास श्रावस्ती नगर में चला गया । इन्द्रदत्त उपाध्याय ने उसे आने का

प्रयोजन पूछा तो कपिल ने सारा वृत्तान्त सुना दिया । इन्द्रदत्त ने उसे पढाने और शालिभद्र शेठ के घर उसके भोजन की व्यवस्था कर दी ।

विद्याध्ययन के लिए वह इन्द्रदत्त उपाध्याय के पास रहता एवं भोजन करने शालिभद्र शेठ के घर जाता । शेठ ने एक दासी को उसके भोजन व्यवस्था के लिए नियुक्त कर दिया । धीरे–धीरे, उन दोनों का परिचय बढ़ा और वह प्रेम प्रणय में बदल गया ।

कुछ दिन बाद श्रावस्ती में विशाल महोत्सव था । दासी महोत्सव में जाने के लिए सुन्दर वस्त्र आदि साध चाहती थी । उसने कपिल को बताया । कपिल ने कहा–**''मेरे पास तुम्हें देने के लिए कुछ भी नहीं है ।''** तब दासी ने उसे धन प्राप्ति का उपाय बताते हुए कहा–**''इस नगरी के धन सेठ को प्रातः काल में जो सबसे पहले बधाई देता है, वह उसे दो माशा सोना देता है ।''**

दूसरे दिन सबसे पहले पहुँचने के इरादे से वह रात्रि में ही घर से निकल गया । नगर-रक्षकों ने उसे चोर समझकर पकड़ लिया और राजा के सामने उपस्थित किया । कारण पुछने पर उसने सारी हकीकत स्पष्ट बता दी । प्रसन्न होकर राजाने उसे मनचाहा दान मांगने को कहा । कपिल ने राजा से कुछ समय मांगा और अशोक वाटिका में चला गया ।

वह सोचने लगा–

यदि दो माशा सोना मांगू, तो उससे दासी के कुछ कपड़े आएँगे । चार मांगू तो हम दोनो के आएँगे । परंतु उससे क्या होगा ? फिर आठ–दस–सोनामोहर से बढते-बढते उसने करोड़ो सोनामोहर यावत् आधा राज्य पाने की मांग का विचार कर लिया । फिर भी उसे संतोष नहीं हुआ ।

अचानक उसकी चिंतन धारा बदल गई । लोभ की गहरी खाई में गिरा हुआ वह संतोष के शिखर पर पहुँच गया । उसे जाति स्मरण ज्ञान प्राप्त हुआ और स्वयं संबुद्ध बन गया ।

संतोष गुण के महारत्न के साथ वह राजा के पास पहुँचा । राजा को कहा, **''राजन् ! अब आपसे मुझे कुछ भी पाने की आकांक्षा नहीं है ।''** तब राजा के सामने ही दीक्षा स्वीकार कर वहाँ से निकल गया ।

एक बार कपिल मुनि श्रावस्ती से विहार कर रह थे । मार्ग में उन्हे बलभद्र आदि चोरों ने घेर लिया । चोरों के नायक ने साधु समझ कर उन्हें कुछ गीत गाने के लिए कहा । तब उन चोरों को सुलभ–बोधि जानकर गीत के रुप में इस अध्ययन को तालियाँ बजाते हुए गाते गए । सभी चोर भी ताल में ताल मिलाते हुए इसे गाते गए । सभी 500 चोर प्रतिबुद्ध हो गए । सभी ने कपिल मुनि के पास दीक्षा स्वीकार की ।

इस अध्ययन में लोभ की अनर्थता को बतलाते हुए कहा है–

जहा लाहो तहा लोहो, लाहो लोहो पवड्ढ़इ ।
दोमास कणयकज्जं कोड़िए वि न निट्ठियं ।।

लोभ कषाय की यह विचित्रता है कि ज्यों-ज्यों धन आदि का लाभ बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों लोभ बढ़ता ही जाता है ।

जिस प्रकार जल से सागर तृप्त नहीं होता है, ईंधन से अग्नि तृप्त नहीं होती है, मुर्दों से श्मशान तृप्त नहीं होता है, उसी प्रकार धन की प्राप्ति से मानव मन भी कभी तृप्त नहीं होता है ।

ज्यों-ज्यों धन मिलता जाता है, त्यों-त्यों उसे अधिक-से-अधिक पाने की इच्छा होती जाती है ।

छह मास की निर्मल संयम साधना के फलस्वरूप कपिल मुनि ने समस्त घाती कर्मों का क्षयकर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया । उसके बाद पृथ्वीतल पर विचरण कर उन्होंने अनेक आत्माओं को धर्मबोध दिया ।

उस धर्मबोध में उन्होंने साधु के निर्मल आचारों का बहुत ही सुंदर वर्णन किया, जो इस अध्ययन में संकलित है ।

9 नमि प्रव्रज्या अध्ययन

इस अध्ययन में नमि राजर्षि और इन्द्र के संवाद का बहुत ही सुंदर वर्णन है ।

नमि राजर्षि के प्रत्येकबुद्ध होकर प्रव्रज्याग्रहण करने की घटना इस प्रकार है–

मालव देश के सुदर्शनपुर का राजा मणिरथ था । उसका छोटा भाई, युवराज युगबाहु था । मदनरेखा युगबाहु की पत्नी थी । मदनरेखा के रूप में आसक्त मणिरथ ने छल से अपने छोटे भाई की हत्या कर दी । अपने शील का रक्षण करने के लिए मदनरेखा वन में चली गई । गर्भवती मदनरेखा ने वहाँ एक पुत्र को जन्म दिया । बाद मे मदन रेखा का अपहरण हो गया । उस बालक को मिथिलानृप पद्मरथ मिथिला ले आया । उसका नाम नमि रखा । यही नमि आगे चल कर पद्मरथ राजा के दीक्षित बनने पर विदेह राज्य का राजा बना ।

इस तरफ, भाई युगबाहु की हत्या के बाद सांप के कांटने से मणिरथ की भी मृत्यु हो गई । मणिरथ का राज्य मदनरेखा के बड़े पुत्र चन्द्रयश को दिया गया ।

किसी छोटी बात को लेकर दोनों राजाओं के बीच युद्ध आरंभ हो गया । परंतु चंद्रयश को ज्योंही युद्ध के मैदान में माता साध्वी मदनरेखा के द्वारा पता चला कि नमिराजा उसका सगा भाई है, तो युद्धभूमि में ही उसने हथियार छोड़ दिए और नमि को अपना राज्य सौंपकर उसने भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली ।

नमिराजा न्याय-नीतिपूर्वक दोनों राज्य का पालन करने लगा ।

वेदना में से विराग की ज्योति प्रगटाने वाले नमिराजा मिथिला के अधिपति थे । सती मदनरेखा के सुपुत्र नमिराजा छह मास से भयंकर वेदना से ग्रस्त थे । अनेक उपचारों के बावजूद भी उनके स्वास्थ्य में लेश भी सुधार नहीं हो रहा था ।

समय-समय की बात है, एक बार के अत्यन्त सुखी नमिराजा आज दुःख की आग में तपे जा रहे थे ।

राजसिंहासन पर बैठने वाले नमिराजा शय्या पर पड़े-पड़े अपनी वेदना भोग रहे थे ।

नमिराजा के देह की रक्षा के लिए सैकड़ों वैद्य प्रयत्नशील थे.....परन्तु वेदना में थोड़ा भी अन्तर नहीं पड़ रहा था.....। अन्त में एक उपचार उन्हें लागू पड़ गया । चन्दन के लेप से उन्हें शीतलता का अनुभव होने लगा.....और नमिराजा की शान्ति से सभी के चेहरे प्रसन्न बन गए । राजरानियाँ आदि सभी महाराजा की शान्ति के लिए चन्दन घिसने लगीं । सैकड़ों रानियाँ निरन्तर चन्दन घिस रही थीं । इस प्रकार चन्दन घिसते समय राजरानियों के हाथों में रहे कंकण परस्पर टकराकर आवाज करने लगे । कंकण के टकराने से उत्पन्न ध्वनि को सहन करने में नमिराजा अशक्त हो चुके थे, अतः वे चिल्ला उठे- **''अहो ! आज मेरे सब दुश्मन बन गए । इस प्रकार कर्णभेदी आवाज क्यों हो रही है ?''**

महाराजा के भाव को जानते ही सभी महारानियों ने अपने हाथों में से एक कंकण को छोड़, शेष कंकण उतार दिये और थोड़ी ही देर बाद कंकण की मर्मभेदी ध्वनि शान्त हो गई । फिर भी राजरानियाँ जोरों से चंदन घिसे जा रही थीं ।

तभी महाराजा ने कहा-**''मंत्रीश्वर ! क्या चन्दन का घिसना बन्द हो गया है, वही तो मेरा जीवन है.....देखो, अभी चन्दन घिसने की आवाज तो नहीं आ रही है ।''**

मंत्री ने कहा-**''राजन् ! चन्दन के विलेपन के प्याले तैयार हैं । चन्दन का घिसना बंद नहीं हुआ है, किन्तु महारानियों ने अपने हाथों में से एक कंकण को छोड़ शेष कंकण उतार दिये हैं, अतः उनकी आवाज बन्द हो गई है । जहाँ दो कंकण टकराते हैं, वहाँ आवाज होती है और जहाँ एक ही कंकण होता है, वहाँ आवाज का प्रश्न ही नहीं है ।''**

मंत्रीश्वर की यह बात सुनते ही नमि महाराजा को आत्म-चिन्तन की नई दिशा मिल गई । वे सोचने लगे-**''एक में शान्ति, अनेक में अशान्ति ।''**

वेदना की आग में से नमिराजा की अन्तश्चेतना जागृत हो गई और अपनी चिन्तनधारा में वे आगे बढ़ने लगे, **'एक में आनन्द है । जहाँ दो, वहाँ कलह और क्लेश है । एक कंकण में कितनी शान्ति है और दो में कितना कोलाहल ! आध्यात्मिक जगत् में भी यह बात उतनी ही सत्य है, जो आत्मा अकेली बन गई.....निस्संग बन गई, वह कितनी शान्त हो जाती है ।'**

शैशव काल में प्राणी अकेला होता है, अतः कितना आनन्दमय होता है । यौवन को पाते ही वह दो बनना चाहता है और फिर दो में से चार.....। बस, एकता का भंग हो गया और चिन्ताओं ने उसे घेर लिया । जीवन की शान्ति धूल में मिल गई । ओह ! एकता में आनन्द.....अनेकता में शोक ।

और इस चिन्तन से नमिराजा के चेहरे पर प्रसन्नता छाने लगी । एकता की भावना ने ही उन्हें शान्ति के महासागर में डुबो दिया ।

कार्तिक पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र की भाँति उनके चेहरे पर प्रसन्नता बढ़ने लगी और उन्होंने यह दृढ़ निश्चय कर लिया-**''यदि इस वेदना से मैं मुक्त हो जाऊँ तो प्रातःकाल ही संसार का त्याग कर प्रभुपंथ का पथिक बन जाऊँगा ।''**

दृढ़ संकल्प में एक महान् शक्ति होती है और उससे विपत्तियों के सब बादल दूर हो जाते हैं ।

बस, इस संकल्प के बाद नमिराजा की आँखें निद्रा से घिर गईं और उन्होंने अत्यन्त शान्ति का अनुभव किया । सभी वैद्य तो इसी भ्रम में थे कि आखिर हमारी औषधि का प्रयोग सफल हो गया ।

प्रातःकाल के प्रकाश के पूर्व नमिराजा एक स्वप्न में लीन थे । स्वर्ण के मेरुपर्वत पर उन्होंने अपने आपको घूमते हुए देखा । और फिर उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हो गया । पूर्व के तीसरे भव में एकता-समता की

साधना करने वाले वे एक साधक महात्मा थे । उस जीवन को पूर्ण कर वे देव बने थे । उस देवभव में सैकड़ों तीर्थंकरों के जन्माभिषेक का महोत्सव इसी मेरुपर्वत पर उन्होंने किया था ।

गत जन्म के इस जातिस्मरण ज्ञान ने उनके विराग के दीप को और अधिक प्रज्वलित किया प्रातः होते ही वे त्याग की यात्रा पर प्रयाण कर गए ।

सारी मिथिला विलाप कर रही थी । नमिराजा के इस संसार-त्याग से मिथिलावासियों के चेहरों पर गाढ़ उदासीनता नजर आ रही थी ।

चारों ओर से क्रन्दन की आवाज सुनाई दे रही थी । किन्तु नमिराजा अपने संकल्प पर दृढ़ थे । वीरों का संकल्प पत्थर की लकीर होता है । वे उस क्रन्दन से पीछे हटने वाले नहीं थे ।

उनके वैराग्य भाव की परीक्षा के लिए ब्राह्मण वेष में आए इन्द्र ने सारी मिथिलानगरी को जलते हुए दिखाया और कहा,

एस अग्गि य वाओ य, एयं ड़ज्झंति मंदिरं ।
भयवं अंतेउरं तेण, कीस णं नावपेक्खह ।।

अर्थ : यह प्रत्यक्ष अग्नि और वायु दिखाई दे रहा है, नगर के ये सभी भवन जल रहे हैं, अंतःपुर में आग लगी है तो आप उनकी उपेक्षा क्यों करते हो ?

भाव से एकाकी बने नमि राजर्षि ने जवाब दिया,

'मिहिलाए ड़ज्झमाणीए, न मे ड़ज्झइ किंचण ।' मिथिला के जलते हुए मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है क्योंकि ज्ञान-दर्शन और चारित्र ही मेरी आत्म–संपत्ति है, बाकी तो सब बाह्य भाव है ।

इस प्रकार नमि राजर्षि को भीतर से विरक्त जानकर इन्द्र ने अपना मूल स्वरूप प्रकट किया और उन्हें भावपूर्वक वंदना की ।

इस प्रकार एकत्व भावना की चिनगारी में से विराग के रागी बनकर अन्त में नमि राजर्षि वीतराग बन गए ।

10 द्रुमपत्रक अध्ययन

भगवान महावीर के प्रथम गणधर श्री गौतम स्वामीजी जिसे भी दीक्षा प्रदान करते थे, उसे केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती थी। शाल–महाशाल आदि पांच को केवलज्ञान की प्राप्ति होने के बाद अपने केवलज्ञान को निश्चित करने के लिए गौतम स्वामी अष्टापद तीर्थ की यात्रा करने गए।

वहाँ कौडिन्य, दत्त और शैवाल नाम के तापस अपने 500-500 शिष्यों के साथ तपस्या कर रहे थे फिर भी वे अष्टापद के एक, दो और तीन ही मेखला तक चढ़ सके थे। तब हृष्ट–पुष्ट शरीर वाले गौतम स्वामी को सूर्य की किरणें के आलंबन से अष्टापद पर चढ़ते देखकर उन्होंने, गौतमस्वामी को ही अपना गुरू बनाने का निश्चय कर लिया।

जब गौतमस्वामी अष्टापद से लौट रहे थे, तब उन 1500 तापसों ने उनके पास दीक्षा ले ली। गौतम स्वामी ने उन्हें भगवान महावीर का परिचय कराया और खीर लाकर अक्षीण–महानस–लब्धि से सभी को पारणा करवाया। पारणा करते करते शुक्ल ध्यान पर आरूढ हुए 500 को केवलज्ञान हो गया। फिर 500 को मार्ग में एवं 500 को समवसरण के निकट पहुँचते केवलज्ञान हो गया।

समवसरण में पहुँचने के बाद जब वे केवली पर्षदा की ओर जा रहे थे, तब गौतम स्वामी ने उन्हें रोकते हुए भगवान महावीर को वन्दना करने को कहा।

तब भगवान ने कहा–हे गौतम ! केवलीयों की आशातना मत करो। यह सुनकर गौतम स्वामी ने उनसे क्षमा मांगी और विचार करने लगे कि मैं कितना भारी कर्मी हूँ। मेरा मोक्ष होगा या नहीं। तब गौतम स्वामी के अधैर्ययुक्त मन को जानकर उनके केवलज्ञान में बाधक अपने प्रति रहे स्नेह राग का कारण बताया।

तब भगवान महावीर ने गौतम स्वामी एवं अन्य साधकों को लक्ष्य में रखकर प्रमाद त्याग का हितोपदेश दिया ।

37 गाथारूप इस अध्ययन में भगवान महावीर परमात्मा ने आयुष्य की क्षणभंगुरता बतलाकर एक समय के लिए भी प्रमाद नहीं करने की सुंदर प्रेरणा दी है-

कुसग्गे जह ओसबिंदुए थोवं चिट्ठइ लंबमाणए ।
एवं मणुआण जीवियं, समयं गोयम मा पमायए ।।

अर्थात्–घास के अग्र भाग पर रहा ओस की बिंदु कुछ समय के लिए ठहरती है, फिर नष्ट हो जाती है । बस, ओस के उस जलबिंदु की तरह यह मानव जीवन है, अतः हे गौतम ! इस जीवन में एक समय मात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिए ।

ड्राइवर की एक क्षण की भूल अनेकों को मौत के घाट उतार देती है ।

सीढ़ियों से ऊपर चढ़नेवाला थोड़ी सी भूल करता है, तो उसे नीचे गिरना पड़ता है । रेस के मैदान में दौडनेवाला क्षण भर रुक जाता है और रेस हार जाता है ।

जीवन के किसी भी क्षेत्र में किया गया प्रमाद नुकसान का ही कारण बनता है, परंतु उससे होनेवाला नुकसान नगण्य कहलाता है । लेकिन आत्मा प्रमाद के वशीभूत होकर एक क्षण के लिए भी आर्त, रौद्र ध्यान कर ले तो उसे दुर्गति में ही जाना पड़ता है ।

आत्मा का प्रमाद बहुत भयंकर है, अतः जीवन की क्षणभंगुरता को नजर समक्ष रखकर सदैव अप्रमत्त रहने की कोशिश करनी चाहिए ।

वृक्ष पर रहे सूखे पत्ते को गिरते कितनी देर लगती है ? अतः बिल्कुल प्रमाद नहीं करना चाहिए ।

इस अध्ययन की प्रत्येक गाथा में चौथा पद एक समान है–**समयं गोयम मा पमायए ।**

11 बहुश्रुतपूजा अध्ययन

विवेकी व्यक्ति ही प्रमाद का त्याग कर सकता है, अतः गत अध्ययन में प्रमाद के त्याग की बात की। जो विवेकी होता है, वह बहुश्रुत होता है। अतः इस अध्ययन में बहुश्रुत बनने के उपाय बतलाए हैं।

सर्वप्रथम ज्ञानप्राप्ति में बाधक तत्त्वों का वर्णन करते हैं-

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेसिं सिक्खा न लब्भइ।
थंभा कोहा पमाएण, रोगेणालस्सएण य॥

इन पाँच कारणों से जीव ग्रहण और आसेवन रूप शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता है–

1) अभिमान : ज्ञान प्राप्त करना हो तो झुकना पड़ता है। नम्र व्यक्ति ही ज्ञान हासिल कर सकता है। अभिमानी के लिए ज्ञानप्राप्ति दुर्लभ है, अतः जिसे ज्ञान पाना है, उसे अभिमान को अवश्य तिलांजलि देनी चाहिए।

2) क्रोध : जो व्यक्ति क्रोध करता है, वह भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है।

3) प्रमाद : मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा ये पाँच प्रमाद कहलाते हैं। प्रमादी व्यक्ति भी ज्ञान हासिल नहीं कर सकता है।

4) रोग : शारीरिक-दृष्टि से रोगी व्यक्ति भी ज्ञान हासिल नहीं कर सकता है।

5) आलस्य : जो व्यक्ति उद्यम नहीं करता है, वह भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है।

जो बहुश्रुत होता है, उसमें निम्नलिखित लक्षण होते हैं–

1) हास्य त्याग : समझदार होने से वह बहुत हँसी-मजाक नहीं करता है।

2) दाँत : अपनी इन्द्रियों को वश में रखता है ।

3) मर्मघाती न हो : किसी की गुप्त बात को प्रकट नहीं करता है ।

4) सदाचारी : सदाचारों का पालन करता है ।

5) निरतिचार व्रत पालक : व्रतों में अतिचार-दोष नहीं लगाता है ।

6) लोलुपता त्याग : खाने-पीने में अत्यंत आसक्त नहीं होता है ।

7) क्षमावान : बार-बार क्रोध नहीं करता है ।

8) सत्यभाषी : कभी झूठ नहीं बोलता है ।

इन गुणों को जीवन में आत्मसात् करनेवाला ही सम्यग्ज्ञान हासिल कर सकता है ।

बहुश्रुत का अर्थ चौदह पूर्वधर है । वे सर्व अक्षर सन्निपाती निपुण होते है । विभिन्न आगम ग्रंथों में बहुश्रुत के विभिन्न अर्थ बताए है । जैसे–दशवैकालिक में **''आगम वृद्ध''**, सूत्रकृतांग में **''शास्त्रार्थ पारंगत''** आदि ।

बहुश्रुत के तीन प्रकार निशीथ चूर्णि, बृहत्कल्प आदि में बताए है–जघन्य बहुश्रुत आचार प्रकल्प एवं निशीथ का ज्ञाता होता है ।

मध्यम बहुश्रुत बृहत् कल्प एवं व्यवहार सूत्र का ज्ञाता होता है ।

उत्कृष्ट बहुश्रुत नौवें अथवा दसवें पूर्व तक के श्रुत का ज्ञाता होता है ।

इस अध्ययन में बहुश्रुत बनने का क्रम बताकर बहुश्रुतों की महिमा, तेजस्विता, आंतरिक शक्ति, कार्यक्षमता एवं श्रेष्ठता को बताने के लिए उन्हे शंख, अश्व, गजराज, उत्तम वृषभ आदि उपमाओं से अलंकृत किया है ।

अंत में बहुश्रुत बनने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिए बहुश्रुत बनने की श्रेष्ठ प्रेरणा दी है ।

12 हरिकेशीय अध्ययन

हरिकेशी बल मुनि का जीवन चरित्र एवं अंत में यज्ञ का स्वरुप बतलाया है–

संसार के भोग-सुखों से विरक्त बने मथुरा के **राजा शंख** ने भागवती दीक्षा अंगीकार की । ज्ञान-ध्यान की साधना करते हुए वे गीतार्थ बने । एक बार वे भिक्षा के लिए हस्तिनापुर आए । नगर में एक मार्ग खूब तपा हुआ था, जिस पर चलना बहुत कठिन था, शंख मुनि ने पास ही गवाक्ष में खड़े सोमदेव पुरोहित को मार्ग पूछा । पुरोहित ने जान बुझकर मुनि को गलत रास्ता बताया । मुनि उस गर्म मार्ग पर चलने लगे । परंतु उनके निर्मल चारित्र के प्रभाव से वह मार्ग भी ठंड़ा हो गया ।

पुरोहित ने जब मुनि को शांति से चलते हुए देखा तो उसे खूब आश्चर्य हुआ । वह नीचे उतरा उसने मार्ग का स्पर्श किया । रास्ता बिल्कुल ठंड़ा था । उसने सोचा, ``मुनि के तप के प्रभाव से यह गर्म मार्ग भी ठंड़ा हो गया है उसे अपनी भूल का पश्चाताप हुआ । उसने मुनि के पास दीक्षा ले ली ।

दीक्षा लेने के बाद भी वे मुनि अपनी जाति का मद करने लगे । वे मरकर देव बने । जाति-मद के कारण देवभव पूर्णकर वह मृत गंगा के किनारे हरिकेश गोत्रीय चाण्डालों के अधिपति बलकोट्ट नाम के चाण्डाल की पत्नी गौरी के गर्भ में पुत्र के रुप में उत्पन्न हुआ उसका नाम `बल' रखा गया । यही बालक आगे चलकर हरिकेशीबल के नाम से जाना गया । वह कुरुप एवं बेडोल था । उसके कुरुप के कारण सभी परिजन उससे घृणा करते थे । बडे होने के बाद उसका स्वभाव क्रोधी और झगडालू बनता गया । वह हर किसी से झगडा करता था । सभी लोग उसके कटु व्यवहार से परेशान हो गए थे ।

एक दिन वसंतोत्सव पर सभी लोग एकत्रित हुए थे । अनेक बच्चे खेलने लगे । हरिकेशीबल उनके साथ खेलने जा रहा था, तब वृद्धों ने उसे खेलने नहीं दिया । इससे गुस्से में आकर उन सबको गालियाँ देने लगा । सबने उसे दूर जगह पर बिठा दिया । अपमान के कारण लाचार और दु:खी होकर वह बैठ गया । इतने में एक भयंकर विषैला काला साँप वहां से निकला । सभी ने उसे दुष्ट साँप कहकर मार डाला । थोडी देर बाद वहाँ निर्विष साँप निकला । उसे विष रहित कहकर छोड दिया । तब उसने सोचा कि ``व्यक्ति अपने ही दोषों के कारण दु:खी होता है और अपने ही गुणों से प्रीति पात्र बनता है । मेरे दोषयुक्त व्यवहार से ही मैं सबका अप्रीति भाजन बना हूँ ।'' इस प्रकार विचार करते हुए उसे जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया । संवेग भाव से उसने भागवती दीक्षा स्वीकार की ।

दीक्षा अंगीकार करने के बाद ये मुनि मासक्षमण जैसी कठोर तपश्चर्या करने लगे । एक बार वे मुनि ब्राह्मणों की बस्ती में गए, जहाँ ब्राह्मण लोग यज्ञ करा रहे थे ।

बल मुनि के मलिन वस्त्र, मलिन देह आदि को देखकर वे ब्राह्मण–मुनि की हँसी-मजाक करने लगे और मुनि को कठोर शब्द कहने लगे ।

ऐसी अपमानजनक स्थिति में भी वे मुनि एकदम शांत रहे । उस समय यज्ञ मंडप में रही राजा की पुत्री **भद्रा** ने उन ब्राह्मणों को रोका और मुनि के तप-त्याग का परिचय दिया ।

उसके बाद वे ही ब्राह्मण मुनि को भिक्षा देने लगे तभी आकाश से सुगंधि जल और पुष्पों की वृष्टि हुई ।

उसके बाद उन मुनिराज ने उन ब्राह्मणों को यज्ञ का वास्तविक स्वरुप समझाया ।

मुनिश्री ने कहा,

तवो जोई जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं ।
कम्मं एहा संजम जोग सन्ती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ।।

''हमारा तप ही ज्योति अर्थात् अग्नि स्वरुप है, जो कर्म रुपी ईंधन को जलानेवाला है । आत्मा ही ज्योतिकुंड है । मन, वचन और काया के शुभ योग से होनेवाला शुभ व्यापार घी है ।''

दया और विनय रुप सरोवर हैं, जिसमें स्नान कर आत्मा कर्म रुपी मैल को दूर कर सकती है । ब्रह्मचर्य शांतितीर्थ है, जिसके सेवन से आत्मा राग-द्वेष रुप पाप से मुक्त हो सकती है ।

13 चित्र संभूतीय अध्ययन

इस अध्ययन में भगवान महावीर प्रभु ने निदान शल्य की भयंकरता समझाने चित्र और संभूती मुनि का जीवन चरित्र बताया है–

पंचाल राया वि य बम्भदत्तो, साहुस्स तस्स वयणं अकाउं ।
अणुत्तरे भुंजिय कामभोगे, अणुत्तरे सो नरए पविट्ठो ।।

चित्तो वि कामेहि विरत्तकामो उदग्गचारित्ततवो महेसी ।
अणुत्तरं संजम पालइत्ता, अणुत्तरं सिद्धिगइं गओ ।।

साकेतपुर के चंद्रावतंसक राजा के पुत्र मुनिचन्द्र ने भागवती दीक्षा अंगीकार की । एक बार मुनिचंद्र मुनि किसी सार्थ के साथ विहार कर रहे थे, तभी मार्ग से भूले पड़े मुनिचंद्र मुनि किसी जंगल में आ पहुँचे । वहाँ चार ग्वालों ने भूख-प्यास से पीड़ित मुनिचंद्र मुनि को देखा । उन्होंने कल्प्य आहार-पानी से मुनि की भक्ति की । मुनिश्री ने उन्हें धर्मोपदेश दिया, जिसे सुनकर उन चारों ने भागवती दीक्षा ली । उन में से दो ने तो बराबर दीक्षा धर्म का पालन किया, परंतु दो के दिल में मलिन देह व

वस्त्रों के कारण कुछ जुगुप्सा भाव आ गया । वे चारों मुनि कालधर्म प्राप्त कर देवलोक में गए ।

मलिन वस्त्र आदि पर जुगुप्सा करनेवाले वे दो मुनि, देवलोक के अपने आयुष्य को पूर्णकर दशपुर नगर में दासीपुत्र के रूप में पैदा हुए ।

सर्पदंश से उन दोनों की मृत्यु हुई, वे दोनों मरकर हिरण बने । शिकारी के बाणों से उन दोनों की करुण मृत्यु हुई । वे दोनों मरकर हंस के रूप में पैदा हुए । वहां पर भी उनकी अकालमृत्यु हुई ।

वे दोनों हंस मरकर वाराणसी नगरी में भूतदिन्न नाम के चांड़ाल के घर चित्र व संभूति नाम के पुत्र के रूप में पैदा हुए ।

चारित्र धर्म के पालन में जुगुप्सा भाव आने के कारण इन दो मुनियों को कितनी भयंकर सजा भुगतनी पड़ी ! अतः साधु-साध्वीजी के मलिन देह या वस्त्र आदि को देखकर लेश भी घृणा नहीं करनी चाहिए ।

चित्र-संभूति

वाराणसी नगरी ।

नगरी का अधिपति था-शंख राजा ।

शंख राजा अत्यंत ही न्यायप्रिय और सदाचारप्रिय थे ।

शंख राजा सदाचार प्रेमी थे परंतु उनकी महारानी दुराचारिणी थी, वह नमुचि मंत्री के प्रेम में पागल थी ।

संसार की यही विचित्रता है, यहाँ एक पूर्व में जाता है तो दूसरा पश्चिम में जाता है । पति और पत्नी की समान विचारधारा सर्वत्र देखने को नहीं मिलती है ।

और एक दिन शंख राजा को नमुचिमंत्री और महारानी के प्रेम प्रकरण की गंध आ गई । आवेश में आकर राजा ने आदेश दिया, ``इस दुष्ट मंत्री को जंगल में ले जाकर मौत के घाट उतार दिया जाय ।''

राजा ने इस कार्य की जवाबदारी चांडाल को सौंप दी ।

वह चांडाल नमुचि को लेकर जंगल में गया । नमुचि मंत्री होने के साथ ही वीणावादन में खूब होशियार था । उसने चांडाल के आगे अपने प्राणों की भीख माँगी ।

चांडाल ने कहा, **''यदि तुम मेरे दो पुत्रों को वीणावादन की कला में निपुण बना दो तो मैं तुम्हें मौत से बचा सकता हूँ ।''**

मरता क्या नहीं करता । नमुचि ने चांडाल की शर्त स्वीकार कर ली ।

वह चांडाल, नमुचि को गुप्त रीति से अपने घर ले आया ।

नमुचि चांडाल के पुत्रों को वीणावादन की कला सिखाने लगा । धीरे- धीरे चांडाल के दोनों पुत्र चित्र और संभूति वीणावादन में निपुण हो गए ।

परंतु यह क्या !

अवसर देखकर नमुचि चांडाल की पत्नी के प्रेम में पागल हो गया ।

सचमुच कौआ रात में अंधा होता है और उल्लू दिन में अंधा होता है, परंतु कामांध व्यक्ति तो दिन और रात, दोनों में अंधा होता है ।

राजा की ओर से मृत्युदंड की सजा प्राप्त कर भी नमुचि अपने आपको बदल नहीं सका ।

कामांध व्यक्ति की गति बड़ी विचित्र होती है । उसे न लज्जा होती है और न ही भय होता है ।

एक बार चांडाल, राजा की आज्ञा से बाहर गया हुआ था, इधर नमुचि और चांडालपत्नी को पूर्ण स्वतंत्रता मिल गई । वे निर्भय होकर काम-क्रीड़ा करने लगे ।

भवितव्यतावश वह चांडाल बीच मार्ग से ही लौट आया और

उसने नमुचि के दुर्व्यवहार को अपनी सगी आँखों से देखा । वह नमुचि को मारने के लिए तैयार हुआ परंतु नमुचि तत्क्षण सावधान हो गया, उसने उस चांडाल को जोर से धक्का मारा । वह चांडाल भूमि पर गिर पड़ा...अवसर देखकर नमुचि वहाँ से भाग गया ।

इधर नमुचि के भागने के बाद चांडाल और उसकी पत्नी के बीच रोज झगड़ा होने लगा ।

माता-पिता के बीच रोज हो रहे झगड़ों से चित्र और संभूति त्रस्त हो गए और एक दिन वे दोनों घर छोड़कर भाग गए ।

चित्र और संभूति वीणावादन में खूब होशियार थे । किसी नगर में जाकर वे वीणावादन द्वारा अपनी आजीविका चलाने लगे । उन दोनों के वीणावादन से नगर की स्त्रियाँ उन दोनों के प्रति आकर्षित होने लगीं । यह दृश्य देख नगर के अग्रणी महानुभावों को चिंता होने लगी ।

लोगों ने जाकर राजा को शिकायत की । राजा ने तत्काल ही उन दोनों को देशनिकाले की सजा कर दी ।

चित्र और संभूति देश की सीमा को छोड़कर बाहर निकल गए ।

एक दिन नगर में कौमुदी महोत्सव का आयोजन हुआ । इस महोत्सव में आने के लिए चित्र और संभूति भी तैयार हो गए ।

अपने मुख पर बुरखा डालकर वे उस महोत्सव में आ गए और वीणावादन करने लगे । वीणा वादन की अपनी अद्‌भुत कला द्वारा उन्होंने संगीतकारों को भी परास्त कर दिया । लोग उन पर फिदा हो गए ।

परंतु अचानक ही किसी ने आवाज दी, **''ये संगीतकार हमसे अज्ञात रहें यह कैसे चल सकता है ? इनके सिर पर रहे पर्दे को दूर किया जाय ।''**

आखिर उन दोनों के सिर पर रहा पर्दा हटा दिया गया ।

पर्दा हटाते ही पता चला कि ये तो वे ही चांडालपुत्र हैं जिनको

राजा ने देशनिकाले की सजा की थी । अरे ! ये दुष्ट यहाँ कहाँ से आ गए । `मारो ! मारो !' लोग चिल्लाने लगे और लकड़ी आदि से उन पर प्रहार करने लगे ।

बड़ी मुश्किल से वे दोनों वहाँ से भागे और एक जंगल में पहुँच गए ।

जंगल में पहुँचने के बाद संभूति ने अपने भाई को कहा, ``क्या हमें जीने का भी अधिकार नहीं है ? हमारी कला ही हमारे लिए दु:ख का कारण बनी है । ऐसी अपमानित जिंदगी जीने के बजाय तो क्यों न मौत को भेंट लें । फिर कभी ऐसा अपमान तो सहना नहीं पड़ेगा !''

संभूति के इन विचारों को सुनकर चित्र भी आत्महत्या करने के लिए तैयार हो गया ।

आत्महत्या का दृढ़ संकल्प कर वे दोनों भाई पर्वत पर चढ़ने लगे ।

पर्वत के शिखर पर से चढ़कर वहाँ से कूदकर अपने जीवन का अंत लाने का उन दोनों ने निर्णय कर लिया था ।

अपने इसी संकल्प के अनुसार वे पर्वत पर चढ़े, परंतु भवितव्यता कुछ और ही थी । आत्महत्या के ध्येय से वे पर्वत पर चढ़े, परंतु वहाँ उन्हें किसी त्यागी तपस्वी संयमी महात्मा के दर्शन हो गए ।

महात्मा की सौम्य मुखाकृति को देख उन दोनों के दिल में महात्मा के प्रति एक आकर्षणभाव पैदा हुआ ।

उन दोनों ने महात्मा के चरणों में भावपूर्वक नमस्कार किया ।

महात्मा ने उन्हें `धर्मलाभ' की आशिष दी । महात्मा के पवित्र चारित्र से वे दोनों खूब प्रभावित हुए ।

उन्होंने अपने दिल की बात महात्मा के आगे प्रकट कर दी ।

उनकी मानसिक वेदना को सुनकर महात्मा ने उन्हें धर्मबोध देते हुए कहा, ***''जीवन में जो कुछ भी कष्ट आते हैं, वे अपने ही किए हुए पापकर्मों के कारण आते हैं, अत: दु:खमुक्त होना हो तो***

सर्वप्रथम पापमुक्त बनना चाहिए । पापमुक्त हुए बिना दुःखमुक्ति कदापि संभव नहीं है । इस संसार में हर जीव दुःख से छुटकारा पाना चाहता है, परंतु आश्चर्य है कि पापमुक्त किसी को नहीं बनना है । पाप का आचरण उत्साह से करते रहता है और दुःख से दूर भागता है, तो दुःखमुक्ति कैसे हो सकेगी ?''

पापों से सर्वथा मुक्त बनना हो तो निष्पाप जीवन स्वीकार करो । यह निष्पाप जीवन ही साधु-जीवन है । इस जीवन के द्वारा ही भूतकाल में हुए पापों की शुद्धि और वर्तमान जीवन में पापों से मुक्ति हो सकेगी ।''

जिनवचनों को आत्मस्थ करनेवाले मुनि के ये शब्द चित्र व संभूति के हृदय को स्पर्श कर गए ।

उन दोनों भाइयों ने चारित्र-जीवन के स्वीकार का दृढ़ संकल्प कर लिया ।

उन दोनों की वैराग्य भावना को देखकर मुनिवर ने उन्हें चारित्ररत्न प्रदान किया ।

चारित्रजीवन की स्वीकृति के बाद वे दोनों मुनि तप-त्याग की साधना में आकंठ डूब गए ।

कठोर तप-त्याग की साधना द्वारा उन दोनों मुनियों ने अपनी काया की माया उतार दी, उनकी काया अत्यंत ही कृश बन गई थी ।

एक दिन वे दोनों मुनिवर विहार करते हुए हस्तिनापुर नगर में पधारे ।

चांडाल के चंगुल में से बचकर भागा हुआ नमुचि, अपने बुद्धिकौशल के द्वारा यहाँ के महाराजा के मंत्री पद पर प्रतिष्ठित हो गया था ।

उसने जैसे ही उन दोनों मुनियों को देखा, नमुचि को लगा- ``इनका अस्तित्व मेरे लिए आपत्ति रूप बन सकता है । अतः किसी भी उपाय से इन्हें इस नगर में से बाहर भगाना जरूरी है ।'' इस प्रकार

विचार कर उसने अपने सेवकों को बुलाकर आज्ञा करते हुए कहा, ``इन दोनों साधुओं को पकड़कर नगर से बाहर निकाल दो ।''

मंत्री की आज्ञा होते ही वे राजसेवक उन दोनों मुनियों के पास पहुँच गए और उनके साथ अभद्र व्यवहार करते हुए उन्हें नगर में से बाहर निकालने की चेष्टा करने लगे ।

उन सेवकों द्वारा कृत अपमान को संभूति मुनि सहन नहीं कर पाए । वे भी आवेश में आ गए ।

राजसेवकों को खत्म करने के लिए उन्होंने तेजोलेश्या छोड़ दी । उस तेजोलेश्या की ज्वालाओं से वह सेवक जलकर खाक हो गए ।

संभूति मुनि के क्रोधावेश को देखकर चित्रमुनि स्तब्ध हो गए ।

वे सोचने लगे, **``जो जीवन कर्मों से मुक्त होने के लिए है उसी जीवन में ऐसी हिंसक प्रवृत्ति । बस, इस प्रकार लंबा जीवन जीने के बजाय तो अनशन करके इस जीवन का अंत ला देने में ही लाभ है ।''** इस प्रकार विचार कर चित्रमुनि अनशन करके अपने जीवन का अंत लाने के लिए तैयार हो गए ।

चित्र मुनि ने अपने मन की भावना संभूति मुनि के आगे प्रगट की ।

चित्र मुनि के अनशन की बात सुनकर संभूति मुनि भी अनशन करने के लिए तैयार हो गए ।

आखिर उन दोनों ने अनशन का संकल्प किया । दिन पर दिन बीतने लगे और एक `महातपस्वी' के रूप में उन दोनों की कीर्ति नगर में चारों ओर फैलने लगी ।

अशुभ निमित्त

चित्र और सम्भूति मुनि । दोनों ने अनशन स्वीकार किया । दोनों मुनि हस्तिनापुर नगर के बाहर कायोत्सर्ग ध्यान की साधना में लीन हो गये ।

ज्यों-ज्यों नगरवासियों को इस बात का पता चला कि इन मुनियों ने अनशन स्वीकार किया है...वे उनके दर्शन के लिए उमड़ पड़े । लोग

आ-आकर तपस्वी महामुनियों के चरणों में भक्तिभाव से नमस्कार करने लगे ।

उनके कठिन तपधर्म की भावपूर्वक अनुमोदना करने लगे...और उनके दर्शन कर अपने आपको कृतकृत्य समझने लगे ।

सनत्कुमार चक्रवर्ती को जब इस बात का पता चला तो वे भी अपने विशाल परिवार के साथ तपस्वी मुनियों के दर्शन-वन्दन के लिए निकल पड़े । अपने विशाल परिवार के साथ सनत्कुमार चक्रवर्ती ने उभय मुनियों को भावपूर्वक वन्दन नमस्कार किया ।

चक्रवर्ती के प्रयाण के बाद चक्रवर्ती का स्त्रीरत्न यानी मुख्य पटरानी सुनन्दा भी महामुनियों के वन्दन के लिए वहाँ उपस्थित हुई ।

सुनन्दा ने महातपस्वी सम्भूति मुनि के चरणों में नमस्कार किया । झुकते समय अचानक सुनन्दा का केशपाश ढीला हो गया । वह केशलता नीचे गिर पड़ी । प्रमाद से उस केशलता का स्पर्श सम्भूति मुनि को हो गया । केशलता के सुकोमल स्पर्श के साथ ही सम्भूति मुनि की विचारधारा एकदम बदल गई ।

नारी-देह की भयंकर अशुचिता के दर्शन के बजाय अब उन्हें स्त्रीरत्न के देह में अद्‌भुत सौन्दर्य दिखाई देने लगा ।

वे सोचने लगे, ``अहो ! जिसके केशपाश के स्पर्श में इतनी सुखानुभूति होती हो, उस स्त्रीरत्न की प्राप्ति में कितनी सुखानुभूति होती होगी ?

``अहो ! मैंने इस कष्टमय साधना के पीछे अपना अमूल्य जीवन खो दिया । धन्य है यह चक्रवर्ती ! जिसको ऐसे अद्‌भुत रूप व लावण्य की साक्षात् मूर्ति समान स्त्रीरत्न की प्राप्ति हुई है ।''

सम्भूति मुनि स्त्रीरत्न के सुख की कल्पना में खो गये ।

संसार के बाह्य सुखों के परित्याग के साथ-साथ अनशन की स्वीकृति द्वारा कठोरतम तपश्चर्या करने वाले सम्भूति मुनि की विचारधारा

स्त्रीरत्न की केशलता के स्पर्शमात्र से बदल गई । यह कैसी विचित्रता ! एक छोटे से निमित्त ने उनकी वर्षों की तप-त्याग की साधना को धूमिल कर दिया ।

संभूति मुनि के दिल में मानों सुनन्दा बस गई हो-इस प्रकार वे अपने आपको भूल गए...अपनी उत्तमोत्तम साधना को भूल गये...और बस, उसी के विचारों में खो गये ।

चित्र मुनि तो अपनी साधना में मस्त थे परन्तु संभूति मुनि तो स्त्रीरत्न के विचारों से त्रस्त थे ।

उन्होंने चित्र मुनि को कहा-**``सचमुच, मैं अपना जीवन हार गया हूँ ।''**

``क्यों ? कैसे ?''

संभूति मुनि ने कहा-``अभी-अभी सनत्कुमार चक्री की स्त्रीरत्न सुनन्दा मुझे वन्दनार्थ आई थी । अचानक उसकी केशलता का मुझे स्पर्श हो गया...और मैं स्तब्ध हो गया । अहो ! कितना सुकोमल स्पर्श ! सचमुच, यह त्यागमय कठोर जीवन जीकर मैं अपने जीवन को हार गया हूँ । हे मुनिवर ! मैंने तो अब मनोमन निदान कर लिया है कि यदि जीवन में किये गये तप-जप का फल हो तो आगामी जन्म में मैं चक्रवर्ती बनूँ और मुझे ऐसे स्त्रीरत्न की प्राप्ति हो ।''

संभूति मुनि की यह बात सुनकर चित्रमुनि एकदम स्तब्ध रह गये ।

``अहो ! यह क्या ! ऐसे कठोर तप की साधना से मोक्ष को हथेली में ला दिया और उसे इस निदान द्वारा दूर धकेलने की चेष्टा ?''

चित्र मुनि ने कहा-``मुनिवर ! तुमने यह क्या कर दिया ? यह तो ऐरावण हाथी को बेचकर गधा खरीदने जैसी बात हो गई । जो साधना शाश्वत जीवन देने में समर्थ है, उस साधना के फलस्वरूप ऐसी तुच्छ याचना ! यह तुम्हारे जैसे विवेकी के लिए उचित नहीं है ।''

चित्र मुनि ने अनेक युक्तियों के द्वारा संभूति मुनि को समझाने की कोशिश की, किन्तु सम्भूति मुनि अपने संकल्प से लेश भी पीछे नहीं हटे ।

चित्र मुनि का प्रयास निष्फल गया । संभूति मुनि अपने निदान-संकल्प के अनुसार आगामी भव में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती बने....।

पतन

कांपिल्यपुर नगर में ब्रह्म नाम का राजा राज्य करता था । उसकी मुख्य रानी का नाम चुलनी था ।

एक शुभ दिन चुलनी रानी ने चौदह महास्वप्न देखे ।

रानी के आनंद का पार न रहा ।...एक शुभ दिन महारानी ने एक तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया और **'ब्रह्मदत्त'** ऐसा नाम किया गया ।

धीरे-धीरे ब्रह्मदत्त बड़ा होने लगा ।

काशी देश के राजा कंटक, हस्तिनापुर के राजा करेण्ड, कोशल देश के राजा दीर्घ, चंपानगरी के राजा पुष्पचूल और कांपिल्यपुर के राजा ब्रह्म की परस्पर गाढ़ मैत्री थी । वे सभी राजा परस्पर के स्नेह से एक-दूसरे के राज्य में एक-एक वर्ष तक आकर रहते थे ।

एक बार ब्रह्म के मस्तक में भयंकर वेदना उत्पन्न हुई । ब्रह्म ने अपने मित्रों को कहा, **''ब्रह्मदत्त को राज्य पर स्थापित कर तुम इस राज्य की व्यवस्था संभालना ।''** इतना कहकर ब्रह्म ने इस संसार से सदा के लिए विदाई ले ली ।

दीर्घ राजा कांपिल्यपुर में रहा । चुलनी के साथ निरंतर संपर्क के फलस्वरूप उन दोनों में परस्पर प्रेमसंबंध हो गया ।

ब्रह्म राजा के मंत्री धेनु को इस बात का पता लग गया । धेनु मंत्री ने यह बात अपने पुत्र वरधनु को कही । वरधनु ने यह बात ब्रह्मदत्त को कही ।

अपनी माता के साथ दीर्घ राजा के इस दुर्व्यवहार को जानकर ब्रह्मदत्त को अत्यंत ही आघात लगा ।

एक दिन वह ब्रह्मदत्त एक कोयल और कौए को लेकर अंत:पुर में गया और वहाँ उन दोनों के बीच संबंध कराकर कौए को मारते हुए बोला-**``मेरे राज्य में यदि कोई ऐसा गलत व्यवहार करेगा तो उसे इसी प्रकार मौत के घाट उतार दूंगा ।''**

ब्रह्मदत्त के इस व्यवहार को देखकर चुलनी एकदम घबरा गई । उसे अपनी आँखों के सामने मौत दिखाई देने लगी ।

एक ओर आसक्ति के कारण चुलनी, दीर्घ राजा के साथ संबंध तोड़ने के लिए राजी नहीं थी तो दूसरी ओर उसे अपने इस गलत व्यवहार के बदले मौत का भय दिखाई दे रहा था । आखिर क्या करना ? उसे कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था ।

संध्या के समय में जब दीर्घराजा चुलनी के पास आया, तब चुलनी ने वह सारा वृत्तांत दीर्घ राजा को सुना दिया ।

दीर्घ राजा ने उसे आश्वासन देते हुए कहा, **``ब्रह्मदत्त से घबराने की कोई जरूरत नहीं है । तू लेश भी चिंता मत कर ।''**

चुलनी को आश्वासन देकर दीर्घ राजा वहाँ से रवाना हो गया ।

इधर ब्रह्मदत्त ने अंत:पुर के द्वार पर कठोर चौकी लगा दी ।

दीर्घ राजा को जैसे ही इस बात का पता चला, उसके गुस्से का पार न रहा । वह किसी भी उपाय से ब्रह्मदत्त को खत्म करने के लिए तैयार हो गया ।

ब्रह्मदत्त को कैसे खत्म किया जाय ? इसके लिए विचार करते करते दीर्घ एक निर्णय पर आया । उसने अपनी योजना चुलनी के सामने प्रस्तुत की ।

उसने कहा-``नगर के बाहर मैं एक लाक्षागृह बनवा देता हूँ । इसी बीच ब्रह्मदत्त के पाणिग्रहण का आयोजन किया जाय । लग्न के बाद वह अपनी पत्नी के साथ उस महल में जाएगा । महल में प्रवेश के बाद

तुरंत ही वहाँ आग लगा दी जाएगी । उस आग की ज्वालाओं में ब्रह्मदत्त भस्मीभूत हो जाएगा ।

बस, अपना यह काँटा सदा के लिए दूर हो जाएगा । फिर तो हमारे सुख में कोई बाधक नहीं बन पाएगा ।''

एक ओर ब्रह्मदत्त को मार डालने के षड्यंत्र की गुप्त योजना बन रही थी तो दूसरी ओर ब्रह्मदत्त के पुण्य का सितारा भी चमक रहा था ।

यद्यपि दीर्घ और चुलनी ने एकांत में बैठकर गुप्त मंत्रणा की थी, परंतु इस षड्यंत्र की गंध राजा के मंत्री धनु को आ गई । उसके दिल में ब्रह्मदत्त के प्रति पूर्ण वफादारी थी, धनु ने यह बात वरधनु को कही ।

इधर दीर्घ राजा ने लग्न के बाद ब्रह्मदत्त के निवास के लिए लाक्षागृह का निर्माण प्रारंभ करा दिया ।

अपनी वृद्धावस्था को देखते हुए धनुमंत्री ने राज्य के कार्यभार से निवृत्ति ले ली ।

मंत्रीपद से निवृत्त होने के बाद धनुमंत्री ने नगर के बाहर दानशाला प्रारंभ की ।

इधर सैकड़ों लोग लाक्षागृह के निर्माण में जुटे हुए थे तो दूसरी ओर ब्रह्मदत्त को बचाने की भावना से धनु ने भी उस लाक्षागृह के भीतर एक भोयरे का निर्माण चालू करा दिया । थोड़े ही दिनों में वह भोंयरा तैयार हो गया । उस भोंयरे के नीचे एक सुरंग तैयार कराई गई, जिसका एक द्वार नगर के बाहर जंगल में खुलता था ।

एक ओर चुलनी और दीर्घ राजा ब्रह्मदत्त को खत्म करने के लिए प्रयत्नशील थे तो दूसरी ओर धनु और वरधनु कैसे भी संयोगों में ब्रह्मदत्त को बचाने के लिए प्रयत्नशील थे ।

चक्रवर्ती का आयुष्य बलवान होता है । वे विशिष्ट पुण्य के धारक होते हैं । उत्तम आत्माओं को ही चक्रवर्ती जैसे उत्तम पद प्राप्त होते हैं ।

एक शुभ दिन ब्रह्मदत्त का पाणिग्रहण हो गया । रात्रि के समय में जब ब्रह्मदत्त ने अपने लिए नवनिर्मित भवन में प्रवेश किया, उस समय श्वसुर पक्ष की ओर से राजकन्या के बजाय किसी दासीपुत्री को भेजा गया ।

उस भवन में वरधनु, ब्रह्मदत्त और नवोढ़ा दासी पुत्री ने प्रवेश किया.. और थोड़ी ही देर बाद पूर्व योजनानुसार उस भवन में आग लगा दी गई । लाख को आग पकड़ते कितनी देर लगती है ? थोड़ी ही देर में आग की लपटों में वह सारा भवन भस्मीभूत हो गया ।

इधर महल के बाहर ज्योंही आग लगी, वरधनु सावधान हो गया । उसने तत्काल ही गर्भगृह का द्वार खोल दिया । ब्रह्मदत्त, वरधनु और दासीपुत्री भोंयरे में उतर गये । वे तीनों सुरंग के मार्ग से जंगल में आ गए ।

दासीपुत्री अपने घर भेज दी गई । इधर ब्रह्मदत्त और वरधनु ने अपना मस्तक मुँडा दिया । वे गुप्त वेश में जंगल की ओर आगे बढ़े ।

लाक्षागृह में आग लगने के बाद दीर्घ राजा और चुलनी मनोमन खूब खुश हुए । परंतु बाहर से तो ब्रह्मदत्त के वियोग की वेदना का ही प्रदर्शन किया ।

परपुरुष के साथ गलत संबंध रखनेवाली चुलनी अपने पुत्र की मृत्यु की कल्पना से अंदर से खुश थी । **ऐसा ही तो यह स्वार्थी संसार है जिसमें कामांध बनी माता अपने सगे पुत्र को ही मौत के घाट उतारने के लिए तैयार हो जाती है ।**

ब्रह्मदत्त और वरधनु संन्यासी के वेष में कटकराज के पास पहुँच गए । कटकराज ने उन दोनों को स्नेह से नहला दिया । इसके साथ ही उन्हें संन्यासी के वेष में आने का कारण पूछा ।

ब्रह्मदत्त ने सारी घटना कटकराज को सुना दी । जिसे सुनकर कटकराज भी स्तब्ध हो गया ।

ब्रह्मदत्त दीर्घ राजा के दुर्व्यवहार को भूला नहीं था । एक दिन उसने दीर्घ राजा को युद्ध के लिए ललकारा ।

दीर्घ राजा भी युद्ध के लिए तैयार हो गया । विराट् सैन्य के साथ उसने चढ़ाई की । कटकराजा ने ब्रह्मदत्त की मदद के लिए अपना विशाल सैन्य सौंपा । दोनों सेनाओं के बीच घमासान युद्ध हुआ और आखिर इस युद्ध में ब्रह्मदत्त ने दीर्घ को यमलोक पहुँचा दिया ।

दीर्घ राजा की मृत्यु के बाद ब्रह्मदत्त वाराणसी नगरी का राजा बना । राज्य की धुरा को उसने अच्छी तरह से वहन किया ।

एक दिन उसने भरत क्षेत्र के छह खंड को जीतने के लिए दिग्विजय हेतु प्रस्थान किया ।

संभूति मुनि के भव में अपनी चारित्रधर्म की साधना के फलस्वरूप चक्रवर्ती बनने का नियाणा किया था । इस कारण ब्रह्मदत्त को छह खंड को जीतने में विशेष तकलीफ नहीं पड़ी ।

वह अल्प समय में ही छह खंड का विजेता राजाधिराज चक्रवर्ती बन गया ।

12 वर्ष तक ब्रह्मदत्त के चक्रवर्तीपने के राज्याभिषेक का महोत्सव चला । सुनंदा जैसे स्त्रीरत्न के साथ वह 14-14 रत्नों का अधिपति भी बन गया ।

ब्रह्मदत्त का चक्रवर्ती के रूप में अभिषेक हुआ । समस्त राज्य में खूब खुशियाँ मनाई गईं ।

एक बार चक्रवर्ती की सभा में एक नट मंडली आई । नट मंडली के अध्यक्ष ने चक्रवर्ती से निवेदन किया-``आज आपके समक्ष मधुकरी गीतनृत्य का प्रदर्शन करना चाहता हूँ ।'' चक्रवर्ती की अनुमति प्राप्त कर नट ने नाटक प्रारम्भ किया । नाटक के भावपूर्ण नृत्य देखते हुए, मधुर गीत सुनते हुए चक्रवर्ती उसमें गहरा लीन हो गया । उसे अनुभूति होने लगी कि ऐसा नृत्य पहले भी कहीं देखा है ? चिन्तन में गहरा लीन होने पर उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया । देवलोक का दृश्य आँखों के सामने आया । सौधर्म देवलोक के पद्मगुल्म विमान का समूचा दृश्य स्मृतियों में

साकार हो उठा । पूर्व जन्म की स्मृतियाँ करते-करते चक्रवर्ती मूर्च्छित हो गया । शीतल उपचार करके उन्हें स्वस्थ किया गया । पिछले पाँच जन्म की याद आने लगी । अपने सगे भाई से मिलने को मन आतुर-बेचैन हो उठा । पर वह है कहाँ ? कहाँ पता लगे उसका ? भाई की खोज करने के लिए चक्रवर्ती ने एक श्लोक के दो चरण बनाये–

आस्व दासौ मृगौ हंसौ मातंगावमरौ तथा ।

और अपने सेवकों को कहा–यह गाथा सर्वत्र प्रचारित कर दो, जो इस गाथा के अगले चरण की पूर्ति कर देगा उसे आधा राज्य दिया जायेगा ।

चक्रवर्ती के आदेशानुसार गाथा प्रचारित हो गई । जन-जन के मुँह पर यह श्लोक नाचने लगा ।

इधर चित्र के जीव ने देवलोक से च्यवकर पुरिमताल नगर के इभ्यसेठ के घर जन्म लिया । पूर्व संस्कारों के कारण वैराग्य हुआ और दीक्षा लेकर तपस्या-कायोत्सर्ग करने लगा । मुनि विहार करते हुए कांपिल्यपुर के बाहर मनोरम कानन में आकर ठहरे और कायोत्सर्ग में स्थित हो गये । पास ही एक किसान का खेत था । किसान खेत में रहट चला रहा था और साथ ही यह गाथा भी बोलता जा रहा था–

आस्व दासौ मृगौ हंसौ मातंगावमरौ तथा ।

मुनि के कानों में यह श्लोक पड़ा तो तुरन्त ही उन्होंने आगे के चरण को यों पूरा कर दिया–

एषा नौ षष्ठिका जातिः अन्योन्याभ्यां वियुक्तयोः ।।

किसान ने श्लोकपूर्ति सुनी तो वह मारे हर्ष के उछल पड़ा । आगे के चरण को वह रटता हुआ तुरन्त दौड़ा और राजसभा में पहुँचा । चक्रवर्ती को सूचना भेजी कि कोई श्लोक की पूर्ति लेकर आया है । चक्रवर्ती ने उसे बुलाया, श्लोक सुना, बस सुनते ही वह स्नेहवश मूर्च्छित हो गया । किसान को तो लेने के देने पड़ गये । जब उसे पीटा गया तो घबराकर उसने कहा-यह पूर्ति मैंने नहीं की, मेरे खेत के पास

एक मुनि खड़े हैं, उन्होंने की है। तब तक शीतल उपचार से चक्रवर्ती को होश आ गया, सारी घटना पूछी।

सम्राट् नंगे पाँवों दौड़कर मुनि के पास पहुँचे, वन्दना की और अब पूर्वकृत पुण्य-पाप-फलों की चर्चा करने लगे।

जाति से अत्यन्त तिरस्कृत सम्भूति मुनि ने हस्तिनापुर में निश्चय से चक्रवर्ती बनने का निदान किया था, इसीलिए तो उसने पद्मागुल्म नामक देवविमान से च्यवकर (मनुष्य भव में) चुलनी की कुक्षि से ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के रूप में जन्म पाया।

काम्पिल्य नगर में सम्भूति का जीव उत्पन्न हुआ, तथा चित्र (चित्र) का जीव पुरिमताल नगर में विशाल, श्रेष्ठिकुल में उत्पन्न हुआ। (वयस्क होने पर) धर्म-श्रवण कर वह साधुधर्म में दीक्षित हुआ।

काम्पिल्य नगर में एक बार चित्र और सम्भूति दोनों एकत्र मिले और उन दोनों ने परस्पर पुण्य-पापजन्य सुख-दुःखरूप कर्मफल के सम्बन्ध में बातचीत की।

महान् ऋद्धि-सम्पन्न और महायशस्वी चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने अतिशय सम्मान के साथ अपने पूर्वभवीय बड़े भाई चित्रमुनि से कहा–

इस जन्म के पूर्व हम दोनों परस्पर अनुरक्त और एक-दूसरे के हितैषी भाई-भाई थे।

हम दोनों पहले दशार्ण देश में दास थे, फिर कालिजर पर्वत पर मृग, तदनन्तर मृतगंगा के किनारे हंस और तत्पश्चात् काशी देश में चाण्डाल पुत्र हुए थे।

फिर हम दोनों देवलोक में महान् ऋद्धि से सम्पन्न देव हुए थे। यह हमारा छठा जन्म है, जिसमें हम एक-दूसरे को छोड़कर पृथक्-पृथक् हो गए।

राजन्! तुमने निदान कृत कर्मों का विशेषरूप से चिन्तन किया, उन्हीं कर्मों के फलोदय से हम दोनों का इस जन्म में वियोग हुआ है।

ब्रह्मदत्त द्वारा पूर्व शुभकर्मकृत सुखभोग का कथन–

हे चित्र ! मैंने पूर्वजन्म में सत्य और शौच से प्रसिद्ध जो कर्म किये थे, आज उनके फल का मैं भोग कर रहा हूँ। क्या तुम भी उन कृत कर्मों का फल उसी प्रकार भोग रहे हो ?

ब्रह्मदत्त द्वारा चित्रमुनि को भोगों के लिए आमंत्रण–

हे चित्र ! उच्च, उदय, मधु, कर्क और ब्रह्म, ये पाँच प्रकार के प्रासाद तथा और अनेक प्रकार के रमणीय प्रासाद जो देवों द्वारा निर्मित हैं, पांचाल देश के विशिष्ट इन्द्रिय भोगों से युक्त एवं धन-धान्यादि से परिपूर्ण इस घर को भी स्वीकार करो।

हे भिक्षु ! तू नाट्य, गीत और वाद्यों के साथ इन कामिनियों से परिवृत्त होकर इन भोगों को भोग। मुझे यही रुचिकर लगता है।

पूर्वभव के स्नेहवश अनुरागी तथा कामभोगों में आसक्त उस राजा (चक्रवर्ती) को, धर्म में स्थिर एवं उसके हितैषी चित्रमुनि ने कहा, सब गीत विलापरूप हैं, सभी नाटक विडम्बनारूप हैं, सभी आभूषण भारभूत हैं तथा समस्त कामभोग दुःखप्रद हैं।

राजन् ! मूढ़जनों के लिए रमणीय किन्तु दुःखावह काम-भोगों में वह सुख नहीं है, जो सुख काम-विरक्त, शीलादि गुणों में रत, तपोधन भिक्षुओं को प्राप्त है।

चाण्डाल जाति, जो मनुष्यों में अधम जाति मानी जाती है, उसमें हम दोनों ने जन्म लिया था। जहाँ हम दोनों चाण्डालों के आवासों में सब लोगों के घृणा के पात्र होकर रहते थे।

उस पापिष्ठ चाण्डाल जाति में, जन्म लेकर हम दोनों चाण्डाल के घर में रहते थे, तब सभी लोगों के घृणापात्र बने हुए थे, किन्तु इस जन्म में, जो उच्चता या श्रेष्ठता प्राप्त है, वह पूर्वजन्म में किये हुए शुभकार्यों के फलस्वरूप है।

पूर्व जन्म में निन्दित उसी सम्भूति का जीव तू इस समय महाभाग्यवान् महाऋद्धि-सम्पन्न एवं पुण्यफलों से युक्त सम्राट् बना है,

अतः इन क्षणिक कामभोगों को छोड़कर अब तू चारित्रधर्म की आराधना हेतु दीक्षा ग्रहण कर ।

मूढ़जनों को प्रिय एवं परिणाम में दुःखद कामभोगों में वह सुख कहाँ, जो काम-भोगों से विरक्त शीलगुणानुरक्त साधुओं को होता है ? **जो लोग विवेकविकल हैं, उन्हें ही काम-भोगादि विषय प्रिय लगते हैं परन्तु वास्तव में ये समस्त दुःखों के मूल हैं ।** क्योंकि विषयी पुरुषों को विषयवासना से कदापि सुख-शान्ति नहीं मिलती, प्रत्युत् वे प्रतिक्षण अशान्त एवं संतप्त रहते हैं, जबकि संयमशील तपस्वी पुरुषों को आत्मरमणता से जो अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है, उस आनन्द के एक कण का सहस्त्रांश भी काम-भोगों में उपलब्ध नहीं होता ।

चित्रमुनि ने ब्रह्मदत्त चक्री को यह समझाया कि-कहाँ तो एक दिन हम अधमाधम चाण्डाल जाति में उत्पन्न हुए थे, यहाँ हमारे साथ किसी की सहानुभूति नहीं थी, सभी हमसे द्वेष और घृणा करते थे, इस प्रकार के घृणित जीवन से ऊपर उठकर हमने जो समस्त काम-भोगों से विरक्त होकर, तथा जातिगत तिरस्कार एवं दुःखों को समभाव से सहकर मुनिधर्म का आचरण किया । **जिससे अशुभकर्मों का क्षयोपशम हुआ और शुभकर्मों का बन्ध पड़ा, उसके फलस्वरूप आज इतनी उच्च स्थिति में तुम (सम्भूति का जीव) पहुँचे हो, अब इस जीवन को क्षणभंगुर भोगों में समाप्त न चारित्रधर्म को अंगीकार करो ।** क्योंकि चाण्डाल जाति से उद्धार होते-होते इस चक्रवर्ती रूप स्थिति तक पहुँचे हो, इसमें श्रुत-चारित्र धर्म ही सहायक हुआ है । अतः यदि तुम शाश्वत सुख की प्राप्ति करना चाहते हो, तो इन अशाश्वत भोगों का परित्याग करके उसी चारित्र धर्म की छत्रछाया में आ जाओ ।

ब्रह्मदत्त द्वारा भोगों को त्यागने की असमर्थता

हे मुनिवर ! जैसे कि तुम मुझे जो सिखा रहे हो, उसे मैं भी जानता हूँ कि ये काम-भोग बन्धन में डालने वाले हैं । किन्तु आर्य ! हम जैसे लोगों के लिए तो ये अत्यन्त दुर्जय हैं ।

हे चित्र ! हस्तिनापुर में उस महान् ऋद्धि वाले चक्रवर्ती को देखकर काम-भोगों में आसक्त होकर मैंने अशुभ निदान कर लिया था।

फिर मैंने उस निदान रूप दोष का प्रतिक्रमण नहीं किया, उसी कर्म का यह फल है कि मैं धर्म को जानता हुआ भी कामभोगों में आसक्त हूँ, उन्हें नहीं छोड़ पा रहा हूँ।

मुनि द्वारा ब्रह्मदत्त को प्रेरणा :

राजन् ! समय बीतता जा रहा है। रातें बहुत तेजी से दौड़ रही हैं। मनुष्यों के काम-भोग भी नित्य नहीं है। क्षीण पुण्य वाले व्यक्ति को ये कामभोग पास आकर भी उसी प्रकार छोड़ देते हैं, जिस प्रकार क्षीणफल वाले वृक्ष को पक्षी छोड़ देते हैं।

राजन् ! यदि तू कामभोगों को छोड़ने में असमर्थ है तो आर्यकर्म ही कर। धर्म में स्थिर होकर समस्त प्राणियों के प्रति अनुकम्पाशील बन।

भोगासक्त ब्रह्मदत्त से निराश मुनि का अन्यत्र गमन–

राजन् ! भोगों को त्यागने की तेरी बुद्धि नहीं है। तू आरम्भ और परिग्रह में अत्यन्त आसक्त हो रहा है। मैंने व्यर्थ ही तेरे को इतनी शिक्षा दी और तुम्हें सम्बोधित किया। अब मैं जा रहा हूँ।

पांचाल देश के राजा ब्रह्मदत्त ने उस मुनि के वचन का पालन नहीं किया।

महर्षि चित्रमुनि सर्वोत्कृष्ट संयम का पालन करके अनुत्तर सिद्ध गति को प्राप्त हुए।

ब्रह्मदत्त के पुण्य का सितारा चमक रहा था। आज वह चक्रवर्ती था, परंतु एक समय था, जब वह भी अपने प्राण बचाने के लिए जंगल में जहाँ-तहाँ भटक रहा था।

एक विकट परिस्थिति में जंगल में किसी ब्राह्मण ने उसे पानी पिलाकर मदद की थी।

ब्रह्मदत्त ने उसको कहा था, ``आज तो मेरी बुरी हालत है, परंतु भविष्य में मैं सत्ताधीश बनूँ तो मैं जरूर तुझे मदद करूंगा ।''

वर्षों बाद जब ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती बना है, तब वो ही ब्राह्मण किसी मदद की आशा से चक्रवर्ती के द्वार खटखटा रहा है ।

अपने पूर्व के उपकार को यादकर चक्रवर्ती ने उसे मुँह मांगी वस्तु देने का वरदान दिया ।

चक्रवर्ती के मुख से वरदान की बात सुनकर वह ब्राह्मण खुश हो गया ।

चक्रवर्ती से वरदान मांगने के लिए उसने अपनी पत्नी से सलाह ली ।

ब्राह्मण की पत्नी ने सोचा, ``यदि उन्होंने ज्यादा धन-संपत्ति माँग ली तो कल ये मुझे छोड देंगे । इनकी संपत्ति को देख कई स्त्रियाँ इनसे पाणिग्रहण करने के लिए तैयार हो जाएगी अतः मुझे तो ये छोड़ ही देंगे ।'' इस प्रकार अपने भविष्य के सुख का विचार कर उस ब्राह्मणी ने अपने पति को सलाह देते हुए कहा, ``हमें प्रतिदिन नए-नए घर पर भोजन मिले और दक्षिणा में एक एक सोना मोहर मिले । बस, इतना मिलेगा तो हमारा काम हो जाएगा ।''

पत्नी की सलाह से ब्राह्मण ने वैसा ही मांगा ।

एक दिन उस ब्राह्मण ने चक्रवर्ती के घर पर भोजन करने की इच्छा व्यक्त की ।

चक्रवर्ती ने उसे समझाते हुए कहा, **``मेरा भोजन तुम पचा नहीं सकोगे, अतः तुम उसका आग्रह छोड़ दो ।''**

परंतु उस ब्राह्मण ने जिद पकड़ ली, **``नहीं, मुझे तो आपके महल में ही भोजन करना है ।''**

आखिर उस ब्राह्मण ने चक्रवर्ती के यहाँ भोजन किया । चक्रवर्ती के भोजन से उसे उन्माद चढ़ गया । रात्रि में उसकी कामवासना

अतिप्रबल हो उठी । काम में वह अंधा हो गया । उसे पत्नी-बहन व माता का भी कोई विवेक नहीं रहा । उस अविवेक में उसने नहीं करने का काम कर दिया ।

जब उसके काम का नशा उतर गया तो उसे पता चला कि उसने यह क्या कर डाला है ? उसे अपने इस दुर्व्यवहार के बदले खूब पश्चात्ताप हुआ ।

उसने सोचा, ``मेरी इस पापलीला का मूल तो यह ब्रह्मदत्त ही है, अतः किसी भी उपाय से मुझे उसका बदला लेना चाहिए ।'' इस प्रकार बदले की भावना से वह उपाय की शोध करने लगा ।

एक दिन वह ब्राह्मण वाराणसी नगरी के बाहर जंगल में जा रहा था, तभी उसने एक भील को अपनी गिलोल से वृक्ष के पत्तों को बींधते हुए देखा ।

बस, यह दृश्य देखते ही उसने मनोमन एक योजना बना ली ।

उस योजना के अनुसार उसने ब्रह्मदत्त की दोनों आँखें फोड़ने का षड्यंत्र रच लिया ।

उसने उस भील को धन का लालच देकर खरीद लिया ।

``ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की जब सवारी निकले, तब अपनी गिलोल से उसकी दोनों आँखें फोड़ देने की है ।''

धन के लोभ में वह भील भी इस अपकृत्य को करने के लिए तैयार हो गया । कुछ ही दिनों के बाद ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की सवारी निकली । एक जगह एकांत में छिपकर उस भील ने अपनी गिलोल के द्वारा चक्रवर्ती की दोनों आँखें फोड़ दीं ।

गिलोल के निशाने से चक्रवर्ती की दोनों आँखें फूट गईं । छह खंड का अधिपति चक्रवर्ती आँखों से अंधा हो गया ।

ब्रह्मदत्त के सैनिकों ने उस भील को पकड़ लिया ।

पूछताछ करने पर पता चला कि यह तो उस ब्राह्मण का षड्यंत्र था ।

इधर अनेक उपचार करने पर भी ब्रह्मदत्त को अपनी खोई हुई आँखें पुनः प्राप्त नहीं हुई । अब ब्रह्मदत्त के आवेश का पार न रहा ।

आवेश में आकर उसने ब्राह्मण के परिवार के सभी सदस्यों की आँखें निकलवा दी ।

इतना करने पर भी ब्रह्मदत्त का कोप शांत नहीं हो पाया ।

उसने आदेश दिया, **``प्रतिदिन नगर में रहे ब्राह्मणों की आँखें निकालकर थाल भरकर वे आँखें मेरे पास लाई जाएँ ।''**

1-2 दिन तो ऐसा ही क्रम चला । एक के अपराध ने संपूर्ण ब्राह्मण जाति को सजा करा दी ।

दो दिन बाद कुशल मंत्रियों ने सोचा, ``इसी क्रम से ब्राह्मणों की आँखें निकाल दी जाएगी तो दुनिया में ब्राह्मणों के द्वारा हो रहे ज्ञानदान की प्रवृत्ति ही रुक जाएगी । इसका कुछ इलाज शोधना चाहिए ।''

आखिर एक मंत्री ने सुंदर उपाय बताते हुए कहा, **``क्यों न थाली भरकर गूंदों के बीज महाराजा के सामने धरे जायें । आखिर उन्हें दिखता तो नहीं है । बीज का आकार भी आँखों के समान ही है ।''**

मंत्री के इस उपाय से सभी सहमत हो गए ।

चक्रवर्ती की आज्ञा के अनुसार रोज थाली भरकर आँखों के स्थान पर गूंदों के बीज राजा को दिये जाने लगे ।

इस प्रकार निरंतर 16 वर्षों तक क्रूर अध्यवसायों के फलस्वरूप वह ब्रह्मदत्त मरकर 7 वीं नरक में चला गया ।

14 इषुकारीय अध्ययन

देवा भवित्ताण पुरे भवम्मि, केई चुया एग विमाण वासी ।
पुरे पुराणे उसुयार नामे, खाए समिद्धे सुरलोगरम्मे ।।

सौधर्मदेवलोक के नलिनीगुल्म विमान में परस्पर छ मित्र देव थे । अपना आयुष्य पूर्णकर वे सभी इषुकार नगर में इषुकार राजा व कमलावती रानी, भृगु पुरोहित तथा उसकी यशा नाम की पत्नी के रूप में पैदा हुए ।

दो गोपालपुत्र जो अभी तक देव भव में ही थे, उन्होंने अवधिज्ञान से जाना कि वे दोनो इषुकार नगर में भृगु पुरोहित के पुत्र होंगे । तब वे श्रमणवेश में भृगु पुरोहित के घर आए । पुरोहित और उसकी पत्नी यशा ने उन्हें वन्दना की । दोनों ने धर्मोपदेश सुना और श्रावक व्रत स्वीकार किया । फिर उन्होंनें पुत्र प्राप्ति के लिए पूछा तब श्रमण युगल ने कहा–**''तुम्हे दो पुत्र होंगे, किन्तु वे बचपन में ही दीक्षा ग्रहण कर लेंगे । उनकी प्रव्रज्या में तुम कोई विघ्न नहीं कर सकोगे । वे धर्म शासन की प्रभावना करेंगे ।''** इतना कहकर वे दोनों देव वहाँ से चले गए ।

कालक्रम से उन्हें दो पुत्र हुए । मोह वश होकर उनके माता–पिता उन्हें साधु परिचय से दूर रखते एवं उनसे दूर रहने को कहते थे ।

एक बार उन दो पुरोहितपुत्रों ने किसी त्यागी, तपस्वी, संयमी महात्मा को देखा । महात्मा को देखते ही उन दोनों के अन्तर्मन में चारित्र धर्म के परिणाम पैदा हो गए । उन्हें संसार के सभी काम-भोग निःसार प्रतीत होने लगे । जन्म, जरा और मृत्यु से अत्यंत ही भयंकर ऐसे संसार से वे उद्विग्न बनकर एक मात्र मोक्षप्राप्ति के ही संकल्पवाले बन गए ।

उन्होंने अपने दिल का अभिप्राय अपने माता-पिता को कहा ।

पुत्रमोह से अत्यंत ही आकुल-व्याकुल बने उनके माता-पिता पहले तो किसी भी संयोग में अपने पुत्रों को दीक्षा देने के लिए तैयार नहीं हुए परंतु बहुत समझाने पर उनका मोह दूर हो गया और वे स्वयं भी दीक्षा के लिए तैयार हो गए । जब कमलावती महारानी को इस बात का पता चला तो उसका भी मन संसार के भोग सुखों से विरक्त हो गया और वह भी दीक्षा के लिए तैयार हो गई ।

महारानी ने महाराजा को धर्मबोध देनेवाले वचन सुनाए । आखिर राजा भी दीक्षा के लिए तैयार हो गया । उन सभी ने भागवती दीक्षा अंगीकार की । निर्मल संयम धर्म का पालन कर वे सभी मोक्ष में गए ।

खणमित्त सुक्खा बहुकाल दुक्खा,
पगाम दुक्खा अणिकामसुक्ख । उत्तरा. (14-13)

काम भोगों से मनुष्य को क्षण मात्र सुख मिलता है और दीर्घकाल दुःख मिलता है ।

काम भोगों में सुख कम और दुःख ज्यादा है ।

पांच इन्द्रियों के विषय भोगों के पीछे सारी दुनिया पागल है ।

सारी दुनियाँ उन्हीं विषय भोगों में सुख की कल्पना करती है । उन्हीं सुखों को पाने के लिए रात और दिन प्रयत्न व पुरुषार्थ करती है । उसकी प्राप्ति में ही उसे स्वर्ग की अनुभूति होती है ।

परंतु महावीर प्रभु हमें सावधान करते हुए कहते है कि,

काम भोगों में जो सुख हैं, वह तो क्षण मात्र के लिए हैं, परंतु उसका परिणाम तो भयंकर दुःखदायी है ।

जहर के लड्डू खाने से एक बार तो मुंह मीठा हो जाता है और भूख भी शांत हो जाती है, परंतु परिणाम कितना भयंकर है । विष का अंतिम परिणाम तो मौत ही है ।

कौन समझदार होगा जो इन विषयों के पीछे पागल बनेगा ?

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने पूर्व भव में नियाणा किया था, जिसके फलस्वरुप संभूति मुनि चक्रवर्ती बने थे, कुछ वर्षों तक चक्रवर्ती के भोग सुख का अनुभव किया था परंतु उसके परिणाम स्वरुप उसे 7वीं नरक में जाना पडा, जहां 33 सागरोपम तक की मरणांत पीडा भुगतनी पड रही है ।

सिर्फ **'जहर'** हो तो उससे बचना आसान हैं, क्योंकि उसमें प्रत्यक्ष मौत दिखती है । परंतु जहर मिश्रित लड्डू हो तो उससे बचना कठिन हैं, क्योंकि उसमें जहर नहीं, लड्डू दिखता हैं, अज्ञानी जीव उससे ललचा जाता है ।

काम-भोग जहर युक्त लड्डू जैसे है, अतः उसमें जीव ललचा जाता हैं, क्योंकि उसका परिणाम नहीं दिखता हैं, प्रत्यक्ष सुख ही दिखता है । प्रभु का संदेश है कि क्षण मात्र के सुख में मत ललचाओं क्योंकि उसका परिणाम दीर्घकाल तक दुःख है ।

अल्प काल के सुख के लिए दीर्घकाल तक मौत के दुःखों को आमंत्रण देना, सिर्फ मुर्खता ही है ।

जीवन में ऐसी मुर्खता न हो इसके लिए सावधान रहना जरुरी है ।

रस

जो पैसे का ही पुजारी है, वह
जीवों का मित्र नहीं बन सकता ।
जो भौतिक सुख का ही अनुरागी है,
वह जीवों के प्रति दयालु नहीं बन सकता ।
कामवासना का गुलाम परमात्मा से प्रीति नहीं
कर सकता । **संसार का कीड़ा**
धार्मिक-क्रियाओं को रसपूर्वक नहीं कर सकता ।

15

भिक्षुलक्षण अध्ययन

मोणं चरिस्सामि समिच्च धम्मं, सहिए उज्जुकडे नियाण छिन्ने ।
संथवं जहिज्ज अकाम कामे, अन्नायएसी परिव्वए सभिक्खू ।।

चरम तीर्थपति महावीर प्रभु ने भिक्षु के चार विकल्प बतलाए हैं ।

1) कुछ आत्माएँ सिंहवृत्ति से चारित्र धर्म स्वीकार करती हैं और सिंहवृत्ति से ही चारित्र धर्म का पालन करती हैं ।

2) कुछ आत्माएँ सियार वृत्ति से चारित्र धर्म स्वीकार करती हैं और सियारवृत्ति से चारित्र धर्म का पालन करती हैं ।

3) कुछ आत्माएँ सिंहवृत्ति से चारित्र धर्म स्वीकार करती हैं और सियारवृत्ति से चारित्र धर्म का पालन करती हैं ।

4) कुछ आत्माएँ सियारवृत्ति से चारित्र धर्म स्वीकार करती है और सिंहवृत्ति से चारित्र धर्म का पालन करती है ।

सिंहवृत्ति से चारित्र धर्म का स्वीकार और पालन अर्थात् खूब उत्साह और उल्लासपूर्वक दीक्षा अंगीकार करना और उसी उत्साह-उल्लास के साथ चारित्रधर्म का पालन करना ।

संयम के बाह्य कष्टों को देख मन में लेश भी दुर्भाव पैदा होने नहीं देना ।

सियारवृत्ति अर्थात् उत्साहहीन होकर चारित्र धर्म का स्वीकार करना और निरुत्साही बनकर चारित्र धर्म का पालन करना ।

भिक्षु का अर्थ भिक्षा वृत्ति से जैसे–तैसे आहार के द्वारा अपना जीवन निर्वाह करने वाला है । जो भिक्षु मोक्ष लक्ष्यीय दर्शन–ज्ञान–चारित्र की साधना के प्रति जागृत नहीं है और केवल सुख–सुविधा,

पद–प्रतिष्ठा–प्रसिद्धि के चक्कर में पड़कर संयम जीवन को खो देता है, वह मात्र द्रव्य भिक्षु है । वह मात्र वेश और नाम से भिक्षु है, वास्तविक भाव भिक्षु नहीं है ।

इस अध्ययन में भिक्षु के कुछ लक्षण बतलाते हुए कहा गया है–

1) सच्चा साधु दीक्षा अंगीकार करने के बाद अपने कुटुंबी-जनों के प्रति मोहजन्य स्नेहभाव नहीं रखता है ।

2) सच्चा साधु सभी प्राणियों को आत्म तुल्य समझता है ।

3) विपरीत संयोगों में भी कभी आकुल-व्याकुल नहीं होता है ।

4) आने वाले परीषह व उपसर्गों को समझदारी पूर्वक सहन करता है ।

5) सुख-दुःख में समभाव धारण करता है ।

6) निमित्त शास्त्रों के आधार पर अपनी आजीविका चलाने की कोशिश नहीं करता है ।

7) सुंदर व मधुर शब्द आदि विषयों में कभी आकर्षित नहीं होता है ।

8) मोक्ष की प्राप्ति में बाधक राग-द्वेष, दम्भ, निदान, प्रतिबद्ध विहार, रात्रिभोजन एवं रात्रि विहार, सदोष आहार आदि से दूर रहने वाला होता है ।

9) जिसके संग से आत्मा मोह के बंधनो में बँध जाय ऐसे स्त्री-पुरुष से दूर रहता है ।

10) जो मंत्र–तंत्र, वमन–विरेचन आदि औषधियाँ बताकर अपनी जीविका नहीं करता है ।

16

ब्रह्मचर्य अध्ययन

ब्रह्मचर्य यह तो साधु जीवन का प्राण है । जिस प्रकार प्राणरहित कलेवर की कोई कीमत नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य रहित साधु की भी कोई कीमत नहीं है । ब्रह्मचर्य व्रत के भंग में सभी व्रतों का भंग है ।

साधु जीवन की समस्त साधनाएँ–तप, जप, समता, ध्यान, कायोत्सर्ग, परीषह जय, कषायविजय, विषयासक्ति का त्याग, उपसर्ग सहन आदि ब्रह्मचर्य रुपी सूर्य के आस–पास घुमनेवाले ग्रह–नक्षत्र के समान है । यदि ब्रह्मचर्य सुरक्षित है, तो ये सभी साधनाएँ सफल होती है अन्यथा ये साधनाएँ केवल शारीरिक कष्ट मात्र रह जाती है ।

सामान्यतया ब्रह्मचर्य का प्रचलित अर्थ मैथून सेवन का त्याग करना है परंतु वास्तव में ब्रह्मचर्य का अर्थ इससे खूब गहन है । ब्रह्म का अर्थ आत्मा है, उसमें विचरण करना ही सच्चा ब्रह्मचर्य है । आत्मा में विचरण करने के लिए इन्द्रिय एवं मन का संयम आवश्यक है, इसलिए ब्रह्मचर्य का अर्थ इन्द्रिय एवं मन का संयम माना जाता है ।

वैसे तो बाह्य रुप से व्रत–नियम आदि मर्यादाओं का पालन भी पूर्ण रुप से ब्रह्मचर्य नहीं है । क्योंकि कामवासना, अब्रह्मचर्य अथवा विषयों में रमणता आदि विकारों के बीज तो आत्मा के भीतर है । नियम–व्रत आदि का ऊपर–ऊपर से पालन कदाचित् शरीर के अंगोपांगों या इन्द्रिय के स्थूलरुप से अब्रह्मचर्य सेवन करने से रोक ले, परंतु इससे भीतर की वासनाएँ शांत नहीं हो सकती । अतः भीतर में छिपें विकारों को निर्मूलन करने के लिए शरीर, इन्द्रिय एवं मन के विषयों में आनंद खोजने से विरत होना आवश्यक है ।

इस अध्ययन में ब्रह्मचर्य पालन का महत्त्व बताते हुए कहा है–

देवदाणवगंधव्वा जक्ख रक्खस किन्नरा ।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति तं ।।

``जो साधु मन, वचन और काया से निर्मल ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उन्हें देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर भी सद्भावपूर्वक नमस्कार करते हैं ।''

यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, अन्य दर्शनों को भी मान्य है । इस व्रत का निरतिचार पालन आत्मा को शाश्वत अजरामर मोक्षपद प्रदान करता है ।

इस ब्रह्मचर्यव्रत के रक्षण व पालन के लिए साधु को ब्रह्मचर्य समाधि के 10 स्थानों का अच्छी तरह से पालन करना चाहिए ।

1) साधु को स्त्री, पशु व नपुंसक की बस्ती से रहित स्थान में रहना चाहिए, क्योंकि स्त्री आदि को बार बार देखने से, पशुओं की कामचेष्टाओं को देखने से और नपुंसक के हाव-भाव आदि देखने से कामवासना को उत्तेजना मिलती है ।

2) स्त्री के रूप-रंग, सौंदर्य आदि संबंधी कथा से बचना चाहिए ।

3) स्त्री के साथ नहीं बैठना चाहिए । स्त्री के पास बैठने से अन्य लोगों के दिल में ब्रह्मचर्यव्रत में शंका पैदा होती है । स्त्री जहाँ बैठी हो, उस स्थान पर पुरुष को 48 मिनिट तक नहीं बैठना चाहिए क्योंकि स्त्री के शरीर में से निकले हुए परमाणु भी प्रायः पुरुष के मन को प्रभावित किए बिना नहीं रहते हैं ।

4) स्त्री के मनोहर अंगोपांगों को घूर कर नहीं देखना चाहिए ।

5) जहाँ दंपति रहते हों, उसके पास दीवार से उनके वार्तालाप, गीत, रुदन आदि शब्दों को नहीं सुनना चाहिए ।

6) दीक्षा के पूर्व भोगे हुए काम-भोगों को मन से भी याद नहीं करना चाहिए ।

7) रसप्रद कामोत्तेजक आहार का सेवन नहीं करना चाहिए ।

8) भूख से अधिक मात्रा में आहार नहीं लेना चाहिए ।

9) सुंदर वेशभूषा, आभूषण-अलंकार आदि से शरीर का श्रृंगार नहीं करना चाहिए ।

10) शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि कामगुणों का अनुरागी नहीं बनना चाहिए ।

इस दस समाधिस्थानों की उपयोगिता को बताते हुए स्वयं शास्त्रकार ने बताया है कि इनके पालन से साधक आत्मा–संयम, संवर और समाधि से अधिकाधिक संपन्न हो सकती है । जिसे पाने के लिए वह मन–वचन और काया का संगोपन करे, इन्द्रियों को वश में करे और अप्रमत्तभाव से समिति–गुप्ति में विचरण करे ।

17 पापश्रमण अध्ययन

जे केइ पव्वइए, निद्दासीले पगामसो ।
भुच्चा पिच्चा सुहं सुवइ, पाव समणेत्ति वुच्चई ।।

रोगनिवारण के लिए लिया गया औषध भी यदि रोगवर्धक बन जाय तो वह औषध नहीं कहलाता है । क्षुधातृप्ति के लिए किया गया भोजन भी यदि मौत का कारण बन जाय तो वह भोजन नहीं कहलाता है । उसी प्रकार तारक तीर्थंकर परमात्मा ने यह श्रमण धर्म आत्मकल्याण अर्थात् मोक्ष के लिए बतलाया है, परंतु इस जीवन का स्वीकार करके भी कोई आत्मा अपना संसार बढ़ा दे या दुर्गति में चली जाय तो मानना ही पड़ेगा कि वास्तव में उसने संयम धर्म का पालन ही नहीं किया है ।

साधु का वेष धारण करने मात्र से कोई साधु नहीं बन जाता है ।

साधु जीवन स्वीकार करने के बाद यदि व्यक्ति यह सोचता है कि

अब मुझे और कुछ भी करने की कोई आवश्यकता नहीं है, न तो मुझे ज्ञानवृद्धि के लिए शास्त्रीय अध्ययन की जरुरत है, न ही तप, जप, ध्यान आदि दश प्रकार के यतिधर्म के आचरण की अपेक्षा है, तो यह उसका सबसे बड़ा भ्रम है। इस भ्रम में रहकर वह सोचता है कि ``मैं तो महान गुरु का शिष्य हूँ, मुझे सभी जगह सम्मान पूर्वक वस्त्र, पात्र, भिक्षा–पानी आदि सुख सुविधाएँ प्राप्त हो जाती है, तो अनावश्यक इस शरीर को पीड़ा क्यों दूं।'' इस प्रकार के विवेक रहित चिंतन करने वाला श्रमण भी पाप श्रमण कहा गया है।

श्रमण दो प्रकार के होते है–सुविहित श्रमण और पाप श्रमण। सुविहित श्रमण वे होते है। जो प्रतिदिन ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना में लीन रहते हुए तप में अपना यथाशक्ति पुरुषार्थ करते है। वे निरतिचार संयम जीवन एवं महाव्रतों का पालन करते है। दश प्रकार के यति धर्म स्वरुप क्षमा, मार्दव, आर्जव, मुक्ति आदि के पालन द्वारा क्रोधादि कषायों का त्याग करते है। क्षमाभाव को आत्मसात् कर वे सच्चे अर्थ में क्षमाश्रमण बने रहते है। वे आत्म–ध्यान में सदा जागृत रहते है।

इससे विपरीत साधु वेष स्वीकार करके भी जो साधु धर्म का पालन नहीं करते हैं, वे **पापश्रमण** कहलाते हैं। ऐसी आत्माएँ दुर्गति-गामी बनती हैं।

इस अध्ययन में **पापश्रमण** के कुछ लक्षण बतलाए हैं जो इस प्रकार हैं।

1. जो साधु अभिनव ज्ञानप्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करता है, वह पाप श्रमण है।

2. जो साधु दीक्षा अंगीकार करने के बाद रसप्रद भोजनकर मस्ती से पड़ा रहता है और दीर्घकाल तक नींद निकालता रहता है, वह पापश्रमण है।

3. जो अपने उपकारी विद्यागुरु आदि की निंदा करता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

4. जो अपने उपकारी के उपकार को लेश भी याद न कर प्रत्युपकार नहीं करता है, वह पापश्रमण कहलाता है ।

5. जो एकेन्द्रिय आदि जीवों को पीड़ा देता रहता है, वह पापश्रमण कहलाता है ।

6. जो अपने संयम के उपकरणों की व्यवस्थित प्रतिलेखना नहीं करता है, वह पापश्रमण कहलाता है ।

7. जो तेजी से दौड़ता है, ईर्या समिति का पालन नहीं करता है, वह पापश्रमण है ।

8. जो अपने उपकारी गुरु की आशातना करता है, वह पापश्रमण कहलाता है ।

9. जो ग्लान वृद्ध आदि की सेवा नहीं करता हैं, वह पापश्रमण कहलाता है ।

10. सूर्यास्त तक जो आहार लेता रहता है, वह पापश्रमण कहलाता है ।

11. जो गृहस्थ को ज्योतिष आदि निमित्त बतलाता है, वह पापश्रमण कहलाता है ।

इस प्रकार पापश्रमण के अनेकविध लक्षण बतलाए है । अपने जीवन में उन पापप्रवृत्तियों से बचने की कोशिश करनी चाहिए ।

इस अध्ययन में 1 से 4 गाथा में ज्ञानाचार के प्रमाद से, 5वीं गाथा में दर्शनाचार में प्रमाद से, 6 से 14 गाथा में चारित्राचार में प्रमाद से 15-16 गाथा में तपाचार मे प्रमाद से, 17 से 19 गाथा में वीर्याचार में प्रमाद से पापश्रमण होने का निरुपण किया है ।

अंत में उपसंहार करते 20वीं गाथा में पापश्रमण के निन्द्य जीवन का तथा 21वीं गाथा में श्रेष्ठ श्रमण के वंद्य जीवन का निरुपण किया है ।

18

संजय अध्ययन

कंपिले नयरे राया, उदिण्ण बलवाहणे ।
नमिणं संजए नामं, भिगव्वं उवणिग्गए ।।

कांपिल्यपुर नगर के महाराजा संजय को शिकार का खूब शौक था । एक बार राजा ने अपने बाण से किसी हिरण का शिकार किया । शिकार के बाद जैसे ही राजा उस हिरण के पास आया, तब उसने मृत हिरण के पास ही कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े महात्मा को देखा ।

महात्मा को देख राजा घबरा गया । उसने सोचा, **''सद्भाग्य से मैं बच गया, अन्यथा इस बाण से महात्मा का ही वध हो जाता । महात्मा की हत्या से मुझे ऋषिहत्या का पाप लग जाता ।''**

वह राजा महात्मा के चरणों में गिर पड़ा और अपने अपराधों की खूब क्षमायाचना करने लगा ।

राजा की भावना को देख महात्मा ने उसे आत्महितकर मोक्षमार्ग अर्थात् चारित्र धर्म का उपदेश दिया ।

महात्मा ने कहा–तुम जिनके लिए ये शिकार आदि कुकृत्य करते हो, उसके दुष्परिणामों को भोगते समय दुर्गति में तुम्हें कोई भी बचा नहीं सकेगा । वहाँ तुम्हें कोई भी शरण नहीं देगा ।

धीर-गंभीर ध्वनि से दिए गए उपदेश से राजा खूब प्रभावित हुआ ।

तत्क्षण राजा ने चारित्र धर्म स्वीकार करने का संकल्प कर लिया । राजा ने अपने दिल की बात मुनि को कही ।

मुनि ने योग्य जानकर संजय राजा को भागवती दीक्षा प्रदान की ।

संजय मुनि निरतिचार चारित्र धर्म का पालन करने लगे ।

एक बार उन्हें जातिस्मरण ज्ञान वाले अन्य राजर्षि का योग हो गया । उन दोनों के बीच में जो वार्तालाप हुआ, वह बहुत ही प्रेरणादायी है ।

इसके बाद इस अवसर्पिणी काल में हुए भरत, सगर, सनत्कुमार आदि 10 चक्रवर्तियों का भी निर्देश किया है, जिन्होंने संसार सुखों को छोड़कर भागवती-दीक्षा अंगीकार की थी ।

जीवियं चेव रुवं च, विज्जुसंपाय चंचलं । उत्तरः (18-13)

मनुष्य का आयुष्य व रुप बिजली की भांति चंचल है ।

घोर अंधेरी रात में आकाश में बिजली चमकती है और क्षण भर के लिए चारों ओर प्रकाश हो जाता हैं, परंतु उस प्रकाश का अस्तित्व कितनी देर के लिए ? एक क्षण में ही वह प्रकाश लुप्त हो जाता है ।

वीर प्रभु कहते है कि इस बिजली की चमक की भांति मनुष्य का आयुष्य और मनुष्य का रुप है ।

यौवन के प्रांगण में प्रवेश के साथ मनुष्य का रुप खिलता हैं परंतु उस रुप को नष्ट होते कहां देर लगती है ।

मानवीय शरीर औदारिक वर्गणा के पुद्गलों से बना हुआ है, अतः क्षण विनश्वर है ।

मानव देह का सुंदर रुप भी क्षण भर में नष्ट हो जाता है ।

अतः इस रुप या मानव जीवन का थोडा भी अभिमान करने जैसा नहीं है ।

19

मृगापुत्रीय अध्ययन

सुग्रीवनगर में बलभद्र राजा के मृगा नाम की महारानी थी । एक शुभ दिन मृगा रानी ने एक तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया । नाम रखा गया बलश्री । परंतु वह लोक में मृगापुत्र के नाम से प्रख्यात हुआ ।

यौवनवय प्राप्त होने पर अनेक रूपवती राजकुमारियों के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ । एक दिन वह अपनी पत्नियों के साथ गवाक्ष में बैठकर नगर के दृश्य को निहार रहा था, अचानक उसकी नजर नगर में गोचरी के लिए भ्रमण कर रहे साधु-महात्मा पर गई ।

महात्मा अत्यंत ही शांत-प्रशांत और गंभीर थे । ईर्यासमिति के पालनपूर्वक वे अत्यंत ही यतना से कदम उठा रहे थे ।

महात्मा को देखते ही उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया । गत भव में वह देव था और उसके पूर्व भव में वह अत्यंत ही समृद्ध राजा था । उस भव में उसने भागवती दीक्षा अंगीकार की थी ।

अपने पूर्व भव के संयम पालन के संस्कार के फलस्वरूप मृगापुत्र को दीक्षा लेने की भावना हो गई । वह अपने माता-पिता के पास आया और बोला **''हे माताजी ! हे पिताजी ! मुझे अब इस संसार में नहीं भटकना है, अतः इस संसार से पार उतरने के लिए मैं संयम धर्म स्वीकार करना चाहता हूँ ।''**

जहा किंपाकफलाणं, परिणामो न सुंदरो ।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुंदरो ।।

यह सारा संसार, जीव के लिए महादुःख का हेतु है । जन्म, जरा, रोग और मृत्यु की पीड़ाएँ जीवात्मा को सतत हैरान करती रहती हैं ।

संसार के भोगसुख क्षणिक सुख देने वाले हैं, परंतु उनका

परिणाम सुंदर नहीं है । जिस प्रकार किंपाक का फल देखने में सुंदर, सूंघने में सुगंधित और खाने में स्वादिष्ट लगता है, परंतु खाने के बाद तो वह मौत ही देता है, अतः जिसका परिणाम सुंदर न हो, ऐसे कामभोगों में कौन आसक्त बनेगा ?

इस संसार में जीवात्मा की कितनी पराधीनता है ! वह जिंदगी भर महेनत करके व्यक्ति व वस्तुओं के साथ स्वामित्व का संबंध जोड़ता है, परंतु मृत्यु एक ही क्षण में उसके स्वामित्व को छीन लेती है । उसके सारे अधिकार एक क्षण में समाप्त हो जाते हैं ।

''जिस प्रकार घर में आग लग जाने पर घर का स्वामी सारभूत वस्तु को लेकर घर से बाहर निकल जाता है, उसी प्रकार इस संसार में चारों ओर से आग लगी है, अतः समझदार व्यक्ति परलोक में साथ चलनेवाले धर्म को लेकर निकल जाता है ।''

अपने पुत्र की तीव्र वैराग्य भावना को देख माता-पिता ने उसे समझाते हुए कहा–

''बेटा ! तू दीक्षा की बात करता है, परंतु तुझे पता है ?''

`संयम धर्म का पालन कितना कठिन है ? दीक्षाग्रहण के बाद कितने गुणों को धारण करने पड़ते है ? सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि सभी संयोगों में समता भाव रखना पड़ता है । **''संयम जीवन में प्राणातिपात विरमण आदि दुष्कर ऐसे महाव्रतों का पालन करना पड़ता है ।''**

इस तरह वे उसके सामने संयम, महाव्रत एवं संयम जीवन के बडे बडे कष्टों और दुःखों का वर्णन करने लगे । अंत में उसके सामने प्रस्ताव रखा कि यदि दीक्षा ही लेनी है तो भुक्त भोगी बन कर लेना, अभी क्या जल्दी है ?

तब मृगापुत्र ने उन्हें आयुष्य की क्षणभंगूरता एवं भोगों की भयंकरता बताई ।

यह सुनकर जब माता–पिता ने उसका दृढनिश्चय जाना तब एकाकी विचरण एवं रोग चिकित्सा त्याग की समस्या बताकर भयभीत करना चाहा । तब मृगापुत्र ने उन्हें जंगल में एकाकी विचरण करने वाले मृगों की समग्र चर्या का वर्णन किया । उसने कहा कि–पूर्व जन्मों में पशु के भवों में ऐसे कष्टों को अनंत बार सहन किये है । यदि इस भव में मनुष्य कष्टों को समतापूर्वक सहन करने का अभ्यास करे तो उसके लिए रोग का अप्रतिकार तथा अन्य मृगचर्या, निर्दोष भिक्षाचर्या आदि कठिन नहीं है । मैं स्वंय मृगचर्या का आचरण करने का संकल्प लेता हूँ ।

आखिर मृगापुत्र की दृढ़ता देख माता पिता का मोह दूर हो गया और उन्होंने सहर्ष उसे दीक्षा के लिए अनुमति प्रदान की । मृगापुत्र ने भी निरतिचार संयम धर्म का पालनकर अजरामर मोक्षपद प्राप्त किया ।

इस प्रकार इस अध्ययन में संयम के लिए अभिलाषी बने मृगापुत्र और उसके माता-पिता का सुंदर वार्तालाप है, जो हमें भी संसार की अनित्यता समझाता है और चारित्र धारण करने के लिए प्रेरित करता है ।

20 महानिर्ग्रंथीय अध्ययन

इस अध्ययन में अनाथीमुनि और श्रेणिक महाराजा का संवाद है-

अणाहो मि महाराय, नाहो मज्ज न विज्जइ ।
अणुकंपयं सुहियं वावि किंचि णाभिसमेमहं ।।

सम्यक्त्व-प्राप्ति

ऋतुराज बसंत के आगमन के साथ ही वन नंदनवन सा प्रतीत हो रहा था । चारों ओर खिले हुए रंग-बिरंगे फूलों से जंगल का वातावरण अत्यंत ही मनमोहक बना था । कोयल की मधुर ध्वनि वातावरण को खुशनुमा बना रही थी । पास ही कल-कल कर बहती नदी का प्रघोष सुनाई दे रहा था ।

पिछले कुछ दिनों से निरंतर राजकीय प्रवृत्तियों से मगधसम्राट् श्रेणिक का मन भारी हो गया था । अपने मन को फूल सा हल्का व कोमल बनाने के लिए वे आज प्रातः काल की मधुर वेला में वे वन-भ्रमण के लिए प्रस्थान कर चुके थे ।

अपने मित्र-मंडल के साथ मगध देश की राजधानी राजगृही के राजमार्गों को पार करते हुए वे मंडितकुक्षि नाम के उद्यान में पहुँचे ।

मंडितकुक्षि उद्यान में अनेक घटादार वृक्ष थे । उस उद्यान में सुगंधित पुष्पों की अनेकानेक लताएँ थीं, जिन पर अनेक पुष्प खिले हुए थें । सुगंधित पुष्पों का रसपान करते हुए अनेक भौंरे चारों ओर गुंजन कर रहे थें ।

पुष्पों की सुगंध से चारों ओर का वातावरण महक उठा था । शीतल पवन की लहरियाँ मंद-मंद गति से आगे बढ़ रही थीं ।

वन के सौंदर्य ने श्रेणिक के मन को हर लिया । उनके चेहरे पर प्रसन्नता छा गई । उनके दिल में आनंद का सागर उछल रहा था ।

कमल के रसपान में आसक्त बने भ्रमर की तरह श्रेणिक का दिल भी वन-भ्रमण के क्षणिक सुख में आसक्त बन चुका था ।

श्रेणिक महाराजा प्रसन्नतापूर्वक मंडितकुक्षि वन की वृक्ष-लताओं को निहार रहे थे कि अचानक उनकी दृष्टि वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ मुनि पर पड़ी और वे एकदम स्तब्ध हो गए ।

ओहो ! यह क्या !

अत्यंत गौर वर्ण से देदीप्यमान काया, चांदसा प्रशांत मुखड़ा, तेजस्वी भाल...सशक्त काया...तेजस्वी नेत्र युगल और मजबूत छाती ।

कामदेव के अवतार समान यह नवयुवक योगी के वेष में क्यों ?

क्या मैं कोई स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ ?

नहीं ! नहीं ! श्रेणिक ने पुनः उस युवायोगी को देखा ।

श्रेणिक चिंतन के महासागर में खो गए । वे सोचने लगे, ``शायद

इस योगी के जीवन में ऐसी कोई दुःख की घड़ी आई होगी...जिससे इन्होंने योगी वेष को धारण करना उचित समझा होगा। मैं जाऊँ इनके पास और इनके दिल की व्यथा को जानकर उसे दूर करने का प्रयत्न करूँ...ताकि ये भी इस जीवन में भोग-सुखों का आनंद लूट सकें।'' इस प्रकार विचार करते हुए श्रेणिक योगी युवा मुनि के एकदम निकट आ गए...। उन्होंने मुनि के चरणों में भावभरी वंदना की।

तत्पश्चात् मुनि के रूप, लावण्य और यौवन से आकर्षित बने श्रेणिक ने पूछा, ``हे आर्य ! अभी तो आप तरुण हो। यौवन के प्रांगण में प्रवेश किए अभी तो एक दशक भी नहीं बीता है...यौवन के रस माधुर्य का अभी तक आपने आस्वाद भी नहीं लिया...फिर भी आपने उन सब भोग-सुखों का सर्वथा त्याग कर दिया...इसके पीछे कोई कारण ?''

श्रेणिक के इस प्रश्न को सुनकर मुनिवर ने कहा, **``राजन् ! मैंने संसार के समस्त भौतिक सुखों का त्याग कर दिया है, क्योंकि मैं अनाथ हूँ... मेरा कोई नाथ नहीं है।''**

मुनिवर का यह उत्तर सुनकर श्रेणिक को कुछ हँसी आ गई। हँसते हुए श्रेणिक ने कहा, **``मुनिवर ! आपका रूप-सौंदर्य ही बतला रहा है कि आप सम्पत्ति व वैभव के सहजस्वामी हो...ऐसी स्थिति में आपको कोई नाथ नहीं मिला ? बड़ा अजीब–सा आपका जवाब है। खैर ! अब आप निश्चिंत रहें। मैं आपका नाथ बनने के लिए तैयार हूँ। आप इस योगी वेष का त्याग कर दें और मेरे साथ राजभवन में चलें। भौतिक सुखों को आप खुशी से भोगें और आनेवाले जीवन को सुखमय बनाएँ।''**

श्रेणिक का यह जवाब सुनकर मुनिवर ने कहा, **``हे श्रेणिक ! जब तुम स्वयं अनाथ हो तब तुम मेरे नाथ कैसे बन सकोगे ? क्या कोई दरिद्र व्यक्ति दूसरे की दरिद्रता दूर करने में समर्थ बन सकता है ? जो स्वयं शक्तिहीन हो, वह दूसरों की क्या मदद करेगा ?''**

मुनिवर के मुख से इस आश्चर्यकारी जवाब को सुनकर श्रेणिक दंग रह गया । सोचने लगा, **``ये मुनिवर कैसी बात करते हैं ? मैं मगधसम्राट् और अनाथ ?''**

श्रेणिक ने मुनिवर से प्रश्न किया, ``मुनिवर ! मैं अनाथ कैसे ? क्या आप मुझे पहिचानते हो ? मैं कौन ? मैं मगधदेश का अधिपति श्रेणिक हूँ । मैं इस विशाल देश का मालिक हूँ, मेरे विशाल राजभवन में सभी प्रकार की सुख-सुविधाएँ हैं । मेरे अंत:पुर में देवांगनाओं जैसी अनेक पत्नियाँ हैं । हाथी, घोड़े व सैन्य का कोई पार नहीं है । मेरे पास शक्ति है...सम्पत्ति है...ऐश्वर्य है और उस विपुल सम्पत्ति के उपभोग का पूरा-पूरा सामर्थ्य है । मेरी आज्ञा के अधीन हजारों नौकर हैं । मेरे एक इशारे पर चलने वाले अनेक मंत्री हैं, जो सदैव मुझे प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते हैं । इस प्रकार विपुल सम्पत्ति का मालिक होते हुए भी हे मुनिवर ! आप मुझे अनाथ कैसे कहते हैं ?''

श्रेणिक की यह गर्वोक्ति सुनकर मुनिवर ने कहा, **``श्रेणिक ! नाथ और अनाथ किसे कहते हैं ? इन दोनों शब्दों के रहस्य को तुम जानते नहीं हो । नाथ और अनाथ के रहस्यभरे अर्थों को जब तुम जानोगे, तब तुम्हें स्वत: प्रतीति हो जाएगी कि तुम स्वयं नाथ हो या अनाथ ?''**

``श्रेणिक ! नाथ और अनाथ के रहस्यों को जानने की इच्छा हो तो ध्यान से मेरी बात सुनो ।''

``हे श्रेणिक ! कोशाम्बी नगरी में एक अत्यंत धनाढ्य सेठ रहता है...मैं उन्हीं का पुत्र हूँ ।'' धन-धान्य और सम्पत्ति से मेरा भरा-पूरा परिवार था । किसी भी प्रकार के भौतिक सुख की मुझे न्यूनता नहीं थी । रूपवती और नवयौवना कन्या के साथ मेरा पाणि-ग्रहण हुआ था । आनंद-कल्लोल करते हुए मेरे दिन बीत रहे थे । सबके दिल में मेरे प्रति प्रेम-स्नेह था । सब मुझे दिल से चाहते थे । सुख के सागर में मैं डूबा हुआ था ।

...परन्तु एक दिन मेरे सुख के महासागर में तूफान आ गया। सुख का महासागर एकदम सूक गया और मेरे जीवन में दु:ख के बादल बरसने लगे।

``मेरी आँखों में एकदम असह्य पीड़ा उत्पन्न हुई...धीरे-धीरे वह पीड़ा बढ़ती गई और मेरे देह के अंग-प्रत्यंग में वह पीड़ा असह्य होने लगी।

तीक्ष्ण शस्त्र के प्रहार से भी मुझे अत्यधिक पीड़ा का अनुभव होने लगा। हृदय, मस्तक व पीठ में इन्द्र के वज्र-प्रहार की भाँति अत्यंत ही भयंकर पीड़ा होने लगी।

``मेरे पिता ने मुझे वेदना-मुक्त करने के लिए अनेक होशियार वैद्य बुलाए...अनेक उपचार कराए...परंतु कोई भी उपचार सफल नहीं हुआ। अनेक औषधि, उपचार के बावजूद भी मेरी वेदना कम नहीं हुई !

विद्या, मंत्र और औषध के सब प्रयोग किये गए, परंतु वे सभी प्रयोग निष्फल गए। इतने-इतने भौतिक साधन होते हुए भी वे साधन मुझे वेदना से मुक्त न करा सके, यही मेरी अनाथता थी।

``श्रेणिक ! मेरे दु:ख दर्द को मिटाने के लिए मेरे पिता, माता ने भरसक प्रयत्न किए...परंतु फिर भी वे मुझे वेदना से मुक्त न करा सकें, यही मेरी अनाथता थी।''

हे राजन् ! मेरे छोटे-बड़े भाई मुझे दु:ख से मुक्त न करा सकें, यही मेरी अनाथता थी।

अरे ! मेरी प्रिय पत्नी ! जो मुझे अत्यंत चाहती थी...वह भी मुझे दु:ख से मुक्त न करा सकी, यही मेरी अनाथता थी।

उस समय मुझे विचार आया कि इस भीषण संसार में भौतिक सुखों में आकंठ डूबकर नित नए-नए कर्मों का बंध कर आत्मा को पराधीनता की बेड़ियों से जकड़ना, इसके बजाय तो क्यों न वीतराग निर्दिष्ट संयम-धर्म का पालन कर उन कर्मों की बेड़ियों को तोड़ देना, जिससे पुन: बंधनग्रस्त होकर भयंकर वेदनाओं शिकार होना न पड़े।

प्रभु महावीर का संदेश है-'सुख में आसक्त मत बनो, दुःख में दीन मत बनो । सुख का त्याग करो, दुःख का स्वीकार करो ।' इस प्रकार विचार करते-करते एक रात मेरे दिल में भाव आया कि यदि मैं इस असह्य वेदना से मुक्त हो गया तो इन समस्त भौतिक सुखों का त्याग कर शांत, दांत और निरारंभी बनकर वीतराग परमात्मा के द्वारा निर्दिष्ट श्रमण-धर्म को स्वीकार कर लूंगा ।'

...और सचमुच ! प्रातःकाल होते ही मेरी वह वेदना दूर हो गई ।

...और अपने दृढ़ संकल्प के अनुसार मैंने संसार के समस्त बंधनों का त्याग कर दिया और निर्ग्रंथ जीवन को स्वीकार कर लिया । अब मैं अपनी आत्मा का नाथ बन गया हूँ ।

``हे राजन् ! तुम ही बताओ कि तुम स्वयं नाथ हो या अनाथ ? क्या तुम मेरे नाथ बनने में समर्थ हो ?''

श्रेणिक ने कहा, ``भगवंत ! आपने मुझे नाथ और अनाथ का सच्चा स्वरूप समझा दिया । आज तक मैं नाथ-अनाथ के स्वरूप से अनभिज्ञ था । आज आपने मुझ रंक पर कृपा कर जो सम्यग्ज्ञान प्रदान किया है उससे मेरी आत्मा में रहा अज्ञान का अंधकार दूर हो गया है ।

``हे भगवंत ! आपके उपदेशामृत का पान करने के बाद मुझे यह अनुभव हो रहा है कि मैं स्वयं अनाथ हूँ ।''

मुनि ने कहा, ''राजन् ! आत्मा ही अपने सुख-दुःख की कर्ता है और सुख-दुःख की भोक्ता भी आत्मा स्वयं ही है । सन्मार्ग में स्थिर आत्मा ही अपनी मित्र है और उन्मार्गगामी आत्मा ही अपनी शत्रु है ।''

मुनिवर के इस उपदेशामृत का पान कर श्रेणिक महाराजा की अंतरात्मा में रहा मिथ्यात्व का अंधकार दूर हो गया, उसी समय उनकी आत्मा ने निर्मल सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त किया ।

हे राजन ! इस प्रकार मैं अनाथ से सनाथ बन गया । आज मैं स्वयं अपना नाथ हूँ, क्योंकि मेरी इन्द्रियाँ, मन और आत्मा पर मेरा अनुशासन है । मैं विधिपूर्वक साधु जीवन का पालन करते हुए अब पूरे विश्व के त्रस–स्थावर जीवों का रक्षक बनकर नाथ बन गया हूँ ।

उसके बाद अनाथी मुनि ने निर्ग्रंथ के स्वरूप का बहुत ही सुंदर वर्णन किया ।

``माता-पिता, पुत्र-परिवार, धन-समृद्धि, राज्य-कीर्ति आदि सब कुछ होते हुए भी व्यक्ति रोग-मृत्यु आदि का प्रतिकार न कर सके तो वह उसकी अनाथता नहीं तो और क्या है ?''

अनाथी मुनि के उपदेश को सुनकर सम्राट् श्रेणिक को भी अपने यथार्थ स्वरूप का ख्याल आया । सम्राट्पने का उनका अभिमान गल गया और वे भी जिनधर्म में अनुरक्त बन गए ।

21 समुद्रपालीय अध्ययन

चंपानगरी में पालित नाम का श्रेष्ठ श्रावक था । वह महावीर प्रभु का परम भक्त था । एक बार व्यापार के लिए पिहुंड़ नगर में गया । उस नगरी की श्रेष्ठी कन्या के साथ उसकी शादी हो गई । समुद्रयात्रा दरम्यान एक बालक का जन्म होने से उस बालक का नाम **समुद्रपाल** रखा गया ।

धीरे धीरे समय बीतने लगा । समुद्रपाल सभी कलाओं में निष्णात हुआ । अनेक राजकन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ ।

एक बार राजमहल के झरोखे में बैठकर नगर के दृश्य को देख रहा था, तभी उसने एक चोर को वधस्थल की ओर ले जाते हुए देखा ।

उसे लाल कपडे और गले में कणेर की मालाएँ पहनाई गई थी । उसके अपराधों की घोषणा की जा रही थी । यह करुण दृश्य देख उसका हृदय भर आया । वह सोचने लगा कि ``उसने जो दुष्कृत्य किया

है, उसका फल वह भोग रहा है। जो जैसा भी अच्छा या बुरा कर्म करता है, उसका फल उसे अवश्य ही भोगना पडता है।''

इस प्रकार कर्म और कर्म के दुःखदायी फलों का विचार करते करते उसका मन संसार से विरक्त बन गया। उसे स्पष्ट रुप से समझ आया कि–यदि मैं संसार में रहा तो आजीवन विषयभोग एवं कषाय के कीचड़ में ही पडा रहूंगा, इससे मुक्त होने के लिए मुझे संसार का त्याग कर निर्ग्रंथ साधु जीवन का ही स्वीकार करना श्रेय है।

माता-पिता को समझाकर उसने भागवती-दीक्षा अंगीकार की।

दीक्षा लेकर वह निर्मल संयम धर्म का पालन करने लगा।

इस अध्ययन में साधु धर्म के निर्मल आचारों का बहुत ही सुंदर वर्णन किया गया है–

पहाय रागं च तहेव दोसं, मोहं च भिक्खु सततं वियक्खणो।
मेरुव्व वाएण अकंपमाणो, परीसहे आयगुत्ते सहिज्जा ।।

साधु, राग-द्वेष से मुक्त होकर, मेरु की तरह निष्कंप होकर परीषहों को सहन करता है।

साधु, महाक्लेशकारी स्वजन–परिजन के संग का त्याग कर व्रत–नियम, शील–सदाचार मय साधु धर्म का पालन करता है।

साधु, अहिंसादि पांच महाव्रत एवं जिनेश्वर परमात्मा के बताए श्रमण धर्म का आचरण करता है।

साधु, सभी जीवों के प्रति दया, पांच इन्द्रियों पर निग्रह एवं क्षमा आदि दश विध श्रमण धर्म का पालन करता है।

साधु, राग–द्वेष और मोह का त्याग करके आत्म रक्षक बनता है।

आत्म हितैषी साधक साधु, शोक, ममत्त्व, गृहस्थ संसर्ग आदि से रहित अकिंचन बनकर समभाव एवं सरलता को धारण करता है।

साधु–प्रिय और अप्रिय दोनों हीं परिस्थितियों में समभाव धारण करता है। जो भी अच्छी वस्तु देखे या सुने उसकी चाह नहीं करता। वह अपने बल की परीक्षा करके विभिन्न देशो में विचरण करता है।

साधु, भयोत्पादक शब्दों को सुनकर भयभीत नहीं बनता। देव–मनुष्य और तिर्यंचों के द्वारा होने वाले उपसर्गों को निर्भयता से सहन करता है।

साधु, पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्मों का क्षय करने के लिए संयम मार्ग में निश्चल रहता है और समस्त प्रतिबन्धों से मुक्त होकर संसार समुद्र को पार करता है।

ऐसे निर्मल चारित्र धर्म का पालन कर समुद्रपाल ने शाश्वत अजरामर मोक्ष पद प्राप्त किया।

22 रथनेमीय अध्ययन

धिरत्थु ते जसोकामी, जो तं जीवियकारणा।
वन्तं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ।।

इस अध्ययन में रथनेमि की कामविह्वलता और राजीमती के उपदेश पूर्ण वचनों का बहुत ही सुंदर वर्णन है।

रथनेमि को प्रतिबोध

एक छोटी सी चिनगारी भयंकर दावानल का रूप ले सकती है। जंगलों में भयंकर दावानल पैदा होते हैं, उन सब का मूल तो एक छोटीसी चिनगारी ही होती है।

बस, इसी प्रकार एक छोटा-सा अशुभ निमित्त एक महान् साधक आत्मा का भी क्षण भर में पतन करा देता है। इसीलिए तो अशुभ निमित्तों से सदा सर्वदा दूर रहने का निर्देश दिया गया है।

बाईसवें तीर्थंकर बाल ब्रह्मचारी नेमिनाथ प्रभु के भाई-रथनेमि !

प्रभु की वैराग्यवाहिनी धर्मदेशना का अमृत-पान कर रथनेमि ने युवावस्था में चारित्र धर्म स्वीकार किया था और वे निर्मल चारित्र धर्म का पालन कर रहे थे।

एक बार स्थनेमि मुनि गिरनार पर्वत की किसी गुफा में कायोत्सर्ग ध्यान में लीन बने हुए थे । उसी समय अचानक आकाश बादलों से घिर गया, चारों ओर अंधकार छा गया । आकाश में बीजलियाँ चमकने लगीं और देखते ही देखते क्षण में जोरदार वर्षा चालू हो गई । चारों ओर पानी-पानी हो गया ।

उस समय एक श्रमणी, जिसका नाम राजीमती था...और जिसने यौवन वय में नेमिनाथ प्रभु के वरद हस्तों से भागवती प्रव्रज्या स्वीकार की थी, गिरनार पर्वत से नीचे उतर रही थी ।

स्वयं अकेली होने पर भी उसके मुखारविंद पर भय की कोई रेखा नहीं थी । आत्मा की अमरता का मुक्तकंठ से गान करनेवाली वह साध्वी आत्मानंद की मस्ती में संयम जीवन का मधुर आस्वाद ले रही थी ।

अचानक मार्ग में ही वर्षा का आगमन हो जाने से राजीमती श्रमणी के सारे वस्त्र भीग गए । चालू वर्षा में कहीं गमनागमन नहीं करना चाहिए, इस आचार मर्यादा को अच्छी तरह से जानते हुए भी कहीं वृक्ष आदि का आश्रय न मिलने पर वह श्रमणी क्रमशः आगे बढ़ रही थी ।

अचानक उसे सामने एक गुफा दिखाई दी । उसने सोचा, 'इस गुफा में जाकर मैं अपने वस्त्रों को ठीक कर दूँ ।'

गुफा में अंधकार तो था ही...परंतु गुफा में प्रवेश करने वाली श्रमणी को अंधकार की विशेष अनुभूति रही ।

'इस गुफा में इस समय कौन हो सकता है ?' इस प्रकार मनोमन ही एकांतता का निश्चय कर व राजीमती श्रमणी अपने अंग पर से भीगे वस्त्रों को दूर करने लगी ।

अचानक आकाश में बीजली चमक उठी । उस बीजली के प्रकाश में वहाँ ध्यान में खड़े स्थनेमि मुनि ने राजीमती के वस्त्र रहित देह को देखा । उनकी ध्यान धारा वहीं पर खंडित हो गई...और उनके रोम-रोम में कामाग्नि भड़क उठी ।

रथनेमि मुनि क्षणभर में साधक मिटकर कामुक बन गए । उनकी चिंतन धारा बदल गई । क्षणभर पूर्व जो जगत् की अनित्यता और आत्मा की नित्यता के ध्यान में लीन थे...जो अपने ध्यान के माध्यम से जगत् को अशुचिमय जान रहे थे, राजुल की देहलता के दर्शन के साथ ही उन्हें उसी के संग में स्वर्ग और मोक्ष की कल्पना दिखाई देने लगी ।

रथनेमि अपनी साधक अवस्था को भूल गए ।

अर्थ और काम के सेवन में जिन्होंने साक्षात् नरक के दर्शन किए थे...आज वे ही रथनेमि मुनि स्त्री-संसर्ग में स्वर्ग सुख के दर्शन करने लग गए । इतना ही नहीं, वे अपने मुनिजीवन की आचार-मर्यादा को भी भूल गए ।

`भाषा-मर्यादा के लोप द्वारा साधु अपनी आत्मा का अधः पतन न कर दे, इसके लिए भगवान ने साधु की भाषा पर नियंत्रण रखने के लिए भाषा समिति और वचन गुप्ति रूपी दो चौकीदार रखे हैं...परंतु रथनेमि मुनि ने उन दोनों चौकीदारों की उपेक्षा कर दी...और वाणी स्वातंत्र्य को प्राप्त कर उस राजीमती साध्वी के पास काम-भोग की प्रार्थना करने लगे ।

नदी में जब बाढ़ आ जाती है, तब वह अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन किए बिना नहीं रहती है...बस, इसी प्रकार काम-क्रोध आदि अंतरंग शत्रु के वशीभूत बनी हुई आत्मा भी अपने साध्वाचार की मर्यादा का लोप किए बिना नहीं रहती ।

रथनेमि बोल उठे, `राजीमती ! यौवन का उपवन अभी पूरा-पूरा खिला हुआ है-इसका आनंद लूट लें । धर्म-ध्यान की साधना के लिए यह वय नहीं है, धर्म ध्यान तो वृद्धावस्था में भी कर लेंगे...अभी तो भोगी भ्रमर बनकर यौवन का आनंद ले ले ।'

रथनेमि की शब्द-ध्वनि कान में पड़ते ही राजुल समझ गई । जल्दबाजी में रथनेमि कुछ अकार्य न कर बैठे...इसके पूर्व राजुल ने अपने आपको संभाल लिया...तुरंत ही उसने अपने वस्त्र ठीक कर लिये ।

सचमुच अंधकार, यौवन, एकांत और स्त्री का मिलन ये काम की चांडाल चौकड़ी है । खिलते हुए यौवन में जब ये निमित्त मिल जाते हैं तो अच्छे-अच्छे साधक का भी अधःपतन हो जाता है ।

रथनेमि का मानसिक पतन हो चुका था...परंतु, राजुल एक सती साध्वी थी । उसने देखा, `काम की आग में गिरने की तैयारी करने वाली इस आत्मा को अभी जागृत नहीं किया तो ये अपनी आत्मा को पतन के गर्त में डाल देंगे ।'

राजीमती ने सोचा, **`पतन की खाई में गिर जाए इसके पूर्व इस काम रूपी हाथी को ज्ञान रूपी अंकुश से वश कर लेना जरूरी हैं ।'** `इस प्रकार विचार कर वह बोली, **`हे देवर ! मुनिवर ! आप अपने मन को शुभ ध्यान में स्थिर रखो...उस ध्यान से ही आपका कल्याण होने वाला है ।'** यादव कुल में जन्मे नेमिनाथ प्रभु के आप लघु-बंधु हो । नेमिनाथ प्रभु ने मेरा वमन (त्याग) कर दिया है । आप इस वमन को चाटने के लिए कैसे तैयार हुए ? नेमिनाथ प्रभु और आपके आचरण में इतना बड़ा अंतर क्यों ? परस्त्री-गमन से तो प्राणी नरक में जाता है और भवांतर में दुर्लभबोधि बनता है ।

चारित्र से भ्रष्ट होकर साध्वी के साथ जो आत्मा अनाचार करती है, वह आत्मा इस संसार में भयंकर दुःखों की भाजन बनती है ।

मेरी काया तो अशुचि-अपवित्रता से भरी हुई है । ऊपर की इस चमड़ी को देखकर आप मुझ पर मोहित क्यों हो रहे हो ?

मैंने भी संयम स्वीकार किया है और आपने भी महाव्रतों का पवित्र वेष धारण किया है । काम की पराधीनता से इन पवित्र महाव्रतों का खंडन ही होने वाला है ।

हे मुनिवर ! आप शास्त्रों के ज्ञाता है । अगंधन कुल में उत्पन्न हुआ सर्प कभी भी वमन किए विष का पुनः पान नहीं करता है । योगी पुरुष तो अगंधन कुल में उत्पन्न हुए साँप के समान होते

हैं । जिन भोगों का वमन कर दिया है, मुनि उन भोगों की कभी इच्छा नहीं करता है । नीच कुल में भी जो प्रवृत्ति नहीं होती है, ऐसी चेष्टा करते हुए आपको शर्म आनी चाहिए ।'

राजीमती की सिंहगर्जना ने रथनेमि पर जादुई असर किया । वे एकदम चौंक उठे । काम-विह्वल बनी उनकी अंतरात्मा में से काम की वासना धीरे-धीरे विलीन होने लगी ।

राजीमती के वचनों में रथनेमि की सुषुप्त आत्मा को पुनः जागृत कर दिया ।

उनकी अंतरात्मा में पश्चाताप पैदा होने लगा...और उनकी आँखों में से पश्चाताप के आँसू बहने लगे । उन्हें अपनी भूल समझ में आ गई ।

वे दोनों उस गुफा में से बाहर आए । वर्षा बंद चुकी थी । आकाश स्वच्छ था...चारों ओर प्रकृति का खुशनुमा वातावरण था । सूर्य की सोनेरी किरणों से वातावरण में आह्लादकता छा गई थी ।

राजीमती पुनः नेमिनाथ प्रभु के दर्शन के लिए गिरनार पर्वत पर चढ़ने लगी ।

रथनेमि भी नेमिनाथ प्रभु के दर्शन के लिए आगे बढ़े । प्रभु के चरणारविंद में पहुँचकर उन्होंने अपने पाप का निवेदन किया और पुनः प्रायश्चित ग्रहण कर अपनी आत्मा को पवित्र स्वर्ण की भाँति शुद्धि बना दिया ।

23 केशीगौतमीय अध्ययन

पंच महव्वयधम्मं पडिवज्जइ भावओ ।
पुरिमस्स पच्छिमंमी, मग्गे तत्थ सुहावहे ।।

तेइसवें श्री पार्श्वनाथ भगवान की परंपरा में प्रथम पट्टधर आचार्य श्री शुभदत्त थे । दूसरे पट्टधर आचार्य श्री हरिदत्त थे । तीसरे पट्टधर आचार्य श्री समुद्रसूरिजी थे । इनके समय में `विदेशी' नामक आचार्य उज्जयिनी नगरी में पधारे । उनके उपदेश से महाराजा जयसेन, उनकी रानी अनंत सुंदरी एवं राजकुमार केशी कुमार प्रतिबुद्ध हुए । उन तीनों ने दीक्षा ली । क्रमशः आचार्य पद पर आरूढ होकर केशी गणधर ने नास्तिक ऐसे प्रदेशी राजा को प्रतिबोध किया था ।

श्रमण भगवान महावीर के अस्तित्व काल में पार्श्वनाथ संतानीय केशी गणधर (आचार्य) भी अपने शिष्य परिवार के साथ विद्यमान थे । एक बार केशी गणधर अपने परिवार के साथ श्रावस्ती नगरी के तिंदुकवन में पधारे । उस समय महावीर प्रभु के प्रथम शिष्य गौतमस्वामीजी भी कोष्टकवन में पधारे ।

पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी के निर्वाण के बीच 250 वर्ष का अन्तर था । महावीर प्रभु के अस्तित्वकाल में पार्श्वनाथ की श्रमण परम्परा विद्यमान थी । यद्यपि दोनों श्रमण परम्परा का मूलभूत उद्देश्य एक होने पर भी दोनों की आचार संहिता में थोड़ा सा अंतर था ।

उस समय गौतम स्वामी और केशी कुमार के श्रमणों ने परस्पर एक दूसरे को देखा और उनके मन में शंकाएं पैदा हुई कि समान लक्ष्य होने पर भी महाव्रत की संख्या, श्वेत व रंगीन वस्त्र, सचेलक व अचेलकपना आदि में भेद क्यों दिखाई दे रहा है ? अपने शिष्यों की

शंकाओं के निवारण के लिए केशीकुमार व इन्द्रभूति गौतम ने परस्पर मिलने का निश्चय किया ।

गौतम स्वामी केशीकुमार से वय में छोटे थे परन्तु ज्ञान में बड़े थे । केशीकुमार तीन ज्ञान के धारक थे और पार्श्व परम्परा के तत्कालीन नायक थे । गौतम स्वामी चार ज्ञान के धारक, प्रभु महावीर के प्रथम शिष्य व प्रथम गणधर थे ।

गौतम स्वामी का स्थान बड़ा होने पर भी वे नम्रता की साक्षात् मूर्ति थे । अतः वे स्वयं अपने शिष्यों के साथ केशीकुमार को मिलने के लिए तिंदुकवन में पधारें । उनके आगमन को देख केशीकुमार प्रसन्न हो गए । उन्होंने गौतम स्वामी का हार्दिक स्वागत किया ।

अन्य औपचारिक विधि की समाप्ति के बाद केशीकुमार ने प्रश्न करते हुए कहा, **'महाभाग ! भगवान पार्श्वनाथ ने चार महाव्रतों का उपदेश दिया, जबकि भगवान महावीर ने पांच महाव्रत बतलाए । 'निर्ग्रंथ मार्ग' समान होने पर भी इस परिवर्तन का क्या कारण ?'**

गौतम स्वामी ने केशीकुमार की शंका का समाधान करते हुए कहा, 'दोनों परंपरा का लक्ष्य समान होने पर भी काल भेद से ही यह परिवर्तन किया गया है । प्रथम तीर्थपति श्री ऋषभदेव प्रभु के शासन के मुनि ऋजु और जड होते हैं । बीच के बाईस तीर्थंकरों के मुनि ऋजु व प्राज्ञ होते हैं । तथा महावीर स्वामी के शासन के मुनि वक्र व जड प्रकृति के हैं ।

प्रथम तीर्थंकर के मुनियों को मार्ग का बोध कठिन होता हैं, जबकि पालन सुकर होता हैं । बाईस तीर्थंकरों के मुनियों को बोध व पालन दोनों सुकर होते हैं, जबकि महावीर स्वामी के मुनियों को बोध व पालन दोनों दुष्कर हैं ।

ऋतु व प्राज्ञ होने के कारण पार्श्वनाथ के साधु अपरिग्रह महाव्रत के अन्तर्गत ही चौथे ब्रह्मचर्य व्रत का समावेश कर लेते थें, क्योंकि वे समझ सकते थें कि स्त्री भी एक परिग्रह है । परन्तु भगवान महावीर के

साधु वक्र और जड होने के कारण ही उनके हित के लिए भगवान् महावीर ने चौथा ब्रह्मचर्य महाव्रत अलग से बतलाया है। इस प्रकार बाह्य दृष्टि से चार और पांच महाव्रतों में संख्या भेद दिखाई देने पर भी तात्त्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं है।

प्रश्न का समाधान पाकर केशीकुमार मुनि प्रसन्न हो गए। उन्होंने दूसरा प्रश्न किया, **'भगवान् पार्श्वनाथ के साधुओं के लिए रंगीन वस्त्र, मूल्यवान् वस्त्र आदि की छूट दी गई, जबकि महावीर स्वामी के साधुओं के लिए जीर्ण-शीर्ण, अल्प मूल्य वाले और श्वेत वस्त्रों का विधान क्यों ?'**

गौतम स्वामी ने कहा, 'इस विधान के पीछे भी पूर्वोक्त कारण रहा हुआ है। पार्श्वनाथ संतानीय साधु ऋजु व प्राज्ञ होने के कारण वे मूल्यवान् वस्त्रों के उपभोग में भी अनासक्त रह सकते थें, जबकि महावीर स्वामी के साधु वक्र व जड़ होने से आसक्ति की संभावना होने के कारण उनके लिए रंगीन, कीमती व उत्तम वस्त्रों के उपयोग का निषेध किया गया है।

केशीकुमार बोले, 'महाभाग ! आप हजारों शत्रुओं के बीच खड़े है। वे शत्रु आपको परास्त करने के लिए तत्पर हैं, फिर भी आपने उन शत्रुओं को कैसे जीत लिया ?'

गौतम स्वामी ने कहा, 'जब मैंने एक शत्रु को जीता तो अन्य चार शत्रु जीत लिए गए। उन पाँचों के जीतने पर दूसरे पाँच हार गए और फिर मैंने उन हजारों दुश्मनों को जीत लिया।'

केशीकुमार ने पूछा, 'यह कैसे ?'

इस बात का समाधान करते हुए गौतम स्वामी ने कहा, 'सर्वप्रथम मैं बाह्य भाव में डूबी हुई अपनी आत्मा को वश करता हूँ, आत्मा वश होते ही क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय वश हो जाते है। इन चारों पर विजय होने पर पांच इन्द्रियों पर विजय पाना सरल हो

जाता है...और फिर तो कोई भी दुश्मन सता नहीं सकता। आत्मविजय का यही मार्ग है।

केशीकुमार-इस दुनिया में कर्म के बन्धनों का पार नहीं है तो फिर आप उन बंधनों से कैसे मुक्त रह सकते हो ?

गौतम स्वामी 'राग, द्वेष, मोह, परिग्रह, स्त्री तथा स्वजन की आसक्ति ही भयंकर बंधन है। उन बंधनों को तोडकर मैं आसानी से विकास मार्ग में आगे बढ़ सकता हूँ।'

केशीकुमार-'हृदय की गहराई में एक लता पैदा होती है जिसके ऊपर विषैले फल लगते हैं। आप उस विषलता को कैसे उखाड़ देते हो ?'

गौतम : हृदय की गहराई में आत्मघातक तृष्णा रूपी विषलता है। उसके फल मोक्ष की भावना को समाप्त कर देने वाले होते है। उसी के प्रभाव से जीव का संसार बढ़ता है और आत्मा जन्म मरण के चक्कर में निरन्तर दुःखी होती है। मैंने जिनेश्वर के शासन की आराधना द्वारा उस विषलता को मूल से उखेड़ दिया है, अतः मैं सुखपूर्वक रह सकता हूं।

केशी-हृदय की गहराई में सर्वनाशी अग्नि छुपी हुई है जो जीव की सुख-शांति को भस्म कर सतत जलाती रहती है, वह कौन-सी अग्नि हैं और उसे कैसे शांत कर सकते हैं ?

गौतम –जीव के साथ अनादि से जुड़े हुए कषाय ही वह अग्नि है। ज्ञान, शील और तप की जलधारा द्वारा वह अग्नि शांत हो जाती है और अंतर में सुख शांति पैदा हो जाती है।

केशीकुमार–मन रूपी घोड़ा साधक को उन्मार्ग की ओर ले जाता है, उसे आप कैसे रोक पाते हो ?

गौतम–मन रूपी चंचल घोड़े को मैं श्रुतज्ञान की लगाम द्वारा अंकुश में रखता हूँ, जिससे सारे तूफान शांत हो जाते हैं।

केशीकुमार–संसार में बहुत से कुमार्ग है, जिन पर चलने से

आत्मा सन्मार्ग से भ्रष्ट हो जाती है । आप इन गलत मार्गों से अपने आपको कैसे बचा पाते हो ?

गौतम–जिनेश्वर प्ररूपित मार्ग सच्चा मार्ग है और अन्य पाखंडियों के द्वारा बताए मार्ग गलत है । वे जीवात्मा को गलत दिशा में ले जाते हैं । श्रद्धापूर्वक जिनवचन का अनुसरण कर, मैं अपने आपको गलत मार्ग से बचा लेता हूँ ।

केशीकुमार–हे गौतम ! वृद्धावस्था और मृत्यु के तीव्र प्रवाह में बह रही आत्मा को कौन बचा सकता है ?

गौतम–जो सछिद्र नौका है, वह अवश्य डुबाएगी परन्तु जो छिद्र रहित नौका है, वह अवश्य पार लगाएगी !

केशीकुमार–वह नौका कौन-सी है ?

गौतम–शरीर नौका है व आत्मा नाविक है और संसार समुद्र है, जिसे महर्षिजन सहज ही तैरकर पार पहुंच जाते हैं ।

केशीकुमार–इस संसार में अधिकांश प्राणी अंधकार में डूबे हुए हैं, उन्हें प्रकाश देने वाला कौन ?

गौतम–जिन्होंने राग-द्वेष को नष्ट कर दिया है, वे वीतराग परमात्मा रूपी सूर्य ही विश्व को उद्योत करते हैं ।

केशीकुमार–शारीरिक व मानसिक पीड़ाओं से ग्रस्त प्राणियों के लिए क्षेम, शिव व बाधारहित स्थान कौन-सा है ?

गौतम–लोक के अग्रभाग में वह शाश्वत स्थान है, जहां आत्मा में जन्म-जरा-मृत्यु आदि की किसी प्रकार की वेदना नहीं है, परन्तु वहां पहुंचना दुष्कर है । हाँ, रत्नत्रयी की निर्मल साधना द्वारा आत्मा वह स्थान प्राप्त कर सदा के लिए चिंतामुक्त बन सकती है ।

गौतम स्वामी भगवन्त के मुख से इस प्रकार अपने प्रश्नों के समाधान सुनकर केशीकुमार अत्यन्त प्रसन्न हो गए और उन्होंने गौतम स्वामी को प्रणाम किया और उसके बाद अपने विशाल परिवार के साथ भगवान् महावीर प्रभु के परिवार में सम्मिलित हो गए ।

24 प्रवचनमाता अध्ययन

इस अध्ययन में साधु की आठ प्रवचनमाताओं का बहुत ही सुंदर वर्णन किया गया है ।

अट्ठ पवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य ।
पंचेव य समिईओ, तओ गुत्तीओ आहिया ।।

दीक्षा लेते समय साधु, अपने देह को जन्म देनेवाली एक माता का त्याग करते हैं, परंतु अपने संयमपुत्र का पोषण करनेवाली आठ माताओं का स्वीकार करते हैं । उन माताओं की गोद में ही संयम पुत्र की सुरक्षा रही हुई है ।

जिस प्रकार जन्मदात्री माता अपने पुत्र की सदैव देखभाल रखती है, उसे हमेशा सुरक्षित सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है और अहितकर उन्मार्ग पर जाने से रोकती है । बालक के रक्षण और चारित्र निर्माण का सतत ध्यान रखती है । उसी प्रकार ये आठ प्रवचन माताएँ भी प्रत्येक प्रवृत्ति करते समय साधु की देखभाल करती है । हमेशा सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है और उन्मार्ग पर जाने से रोकती है । साधु का दुष्प्रवृत्तियों से रक्षण और चारित्र के विकास पर ध्यान देती है ।

पांच समिति और तीन गुप्ति के रूप में रही ये आठ प्रवचनमाताएँ समस्त द्वादशांगी रुप प्रवचन का आधार भूत आचार है । समिति का अर्थ है–शुभ में प्रवृत्ति करना और गुप्ति का अर्थ है अशुभ में निवृत्ति करना ।

प्रवचन माताओं का पालन करना साधु के लिए अत्यंत आवश्यक है । इनके पालन में ही पांच महाव्रतों की सुरक्षा रही हुई है ।

संक्षेप में इनका स्वरूप इस प्रकार है–

1. ईर्यासमिति के पालन में द्रव्य से जीव द्रव्य को देखना चाहिए । क्षेत्र की अपेक्षा चार हाथ प्रमाण मार्ग को देखना चाहिए । काल

की अपेक्षा चलते समय उपयोग रखना चाहिए और भाव से ईर्यासमिति के पालन में जीवरक्षा का उपयोग होना चाहिये ।

2. भाषा समिति के पालन में क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, मोह व विकथा युक्त वचनों का त्याग करना चाहिए ।

3. एषणा समिति के पालन में भिक्षाग्रहण के 42 दोष व भिक्षा उपभोग के 5 दोषों को अवश्य टालना चाहिए ।

4. आदान-भंड़ मत्त निक्षेपणा समिति का पालन करते समय चक्षु से बराबर प्रतिलेखना करनी चाहिए ।

5. पारिष्ठापनिका समिति के पालन में 17 प्रकार की निर्जीव भूमि का बराबर ख्याल रखना चाहिए ।

6. मनो गुप्ति के पालन में दुष्ट विचार, संकल्प विकल्पों का त्याग करना चाहिए ।

7. वचन गुप्ति के पालन में सावद्य वचनों का त्याग कर यथा शक्य मौन धारण करना चाहिए ।

8. काय गुप्ति के पालन में काया की दुश्चेष्टाओं का त्याग कर कायोत्सर्ग आदि में स्थिर रहना चाहिए ।

इस प्रकार पांच समिति और तीन गुप्ति का बहुत ही सुंदर वर्णन इस अध्ययन में किया गया है ।

इन पाँच समिति व तीन गुप्ति का दृढ़ता से पालनकर आज तक अनेक आत्माओं ने शाश्वत मोक्षपद प्राप्त किया है ।

असावज्ज मियं काले भासं भासिज्ज पन्नवं उत्तरा.(24-10)

वचन के उच्चारण बिना जीवन व्यवहार चल नहीं सकता है ।

गृहस्थ का तो संपूर्ण व्यवहार-व्यापार जबान के आधार पर ही चलता है ।

साधु जीवन में भी वाणी का उपयोग करना ही पडता है ।

गोचरी, विहार, उपदेश, मार्ग दर्शन आदि में जबान का उपयोग करना ही पडता है ।

परंतु मन में कुछ भी आ गया और बोल दिया, यह साधु के लिए उचित नहीं है ।

साधु को क्या बोलना चाहिए और क्या नहीं बोलना चाहिए ? इस संदर्भ में इस अध्ययन में बहुत ही सुंदर मार्गदर्शन दिया है ।

प्रस्तुत श्लोकार्द्ध में साधु को भाषा निर्देश देते हुए कहा है कि–

साधु को हमेशा असावद्य भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए ।

जिस भाषा के पीछे किसी भी प्रकार का पाप रहा हो अथवा पाप की संभावना हो, ऐसी भाषा साधु को नहीं बोलनी चाहिए ।

साधु की भाषा खूब प्रमाणोपेत अर्थात् मापसर होनी चाहिए ।

जितने शब्दों की आवश्यकता है, उतना ही बोलना चाहिए ।

हितकारी भी बात थोडे शब्दों में कहे तो अच्छा लगता है । ज्यादा बोल बोल करने से अच्छी बात का भी अर्थ नहीं रहता है ।

शक्कर भी मापसर अच्छी लगती है ज्यादा प्रमाण में ले तो वह भी नुकसान करती है ।

परिस्थिति या संयोग के अनुरुप भाषा होनी चाहिए ।

समय व संयोग के अनुरुप भाषा न हो तो लाभ के बदले नुकसान ही होता है ।

शोक के प्रसंग में लग्न के गीत नहीं गाए जाते है ।

वाणी को संयमित बनाने के लिए बोलते समय निम्न दोषों से बचना चाहिए ।

1. क्रोध की भाषा न बोले ।

2. भाषा में अहंकार नहीं होना चाहिए ।

3. वाणी में, माया-कपट का प्रयोग नहीं होना चाहिए ।

4. वाणी में लोभ वृत्ति नहीं होनी चाहिए ।

5. किसी की मजाक नहीं उडानी चाहिए ।

6. वाणी में निंदा की भाषा नहीं होनी चाहिए ।

7. वाणी में विकथा नहीं होनी चाहिए ।

8. वचन में निर्भयता होनी चाहिए ।

25

यज्ञीय अध्ययन

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोव लिप्पई ।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ।।

वाराणसी नगरी में जयघोष और विजयघोष नाम के दो ब्राह्मण थे । एक बार जयघोष गंगास्नान के लिए गया । वहाँ मेंढ़क का भक्षण कर रहे क्रूर सांप और उसी सांप को भक्षण कर रहे कुरर पक्षी को देख जयघोष ब्राह्मण को वैराग्य उत्पन्न हुआ । संसार का त्याग कर उसने भागवती दीक्षा अंगीकार की । निर्मल संयम धर्म की आराधना-साधना करते हुए वे शास्त्रों में निपूण बने ।

एक बार जयघोष मुनि पृथ्वीतल पर विचरण करते हुए वाराणसी नगरी में पधारे । उसी समय उस नगरी में विजयघोष ब्राह्मण यज्ञ करा रहा था ।

अत्यंत ही निःस्पृही ऐसे जयघोष मुनि मासक्षमण के पारणे में गोचरी के लिए निकले हुए विजयघोष के यज्ञ मंड़प के पास आए, परंतु विजयघोष ने उन्हें गोचरी देने से इन्कार कर दिया और बोले, ``यह आहार तो जो स्व-पर का कल्याण करनेवाले हैं, उनको देने योग्य है ।''

विजयघोष की यह बात सुनकर जयघोष मुनि को लेश भी गुस्सा नहीं आया ।

एक मात्र, विजयघोष ब्राह्मण को कर्मबंधन से मुक्त करने की भावना से जयघोष मुनि ने विजयघोष से चार प्रश्न किये–

1. हे विजयघोष ! क्या तुम वेद में मुख्य को जानते हो ?
2. **क्या तुम यज्ञ में मुख्य को जानते हो ?**
3. क्या तुम नक्षत्र में मुख्य को जानते हो ?

4. क्या तुम धर्म में मुख्य को जानते हो ?

इन प्रश्नों को सुनकर विजयघोष चुप हो गया ।

उसने महात्मा को ही इन प्रश्नों का जवाब पूछा ।

जयघोष मुनि ने कहा–

1. ``वेद में मुख अग्निहोत्र है । साधक आत्मा को कर्म रूपी ईंधन तथा धर्म ध्यान रूपी अग्नि में उत्तम भावना की आहूति देनी चाहिए । वास्तव में, यही सच्चा यज्ञ क्रोध, मान, माया व लोभ को जीतनेवाला है । हिंसादि पापों का त्याग करनेवाला ही सच्चा ब्राह्मण है ।

2. यज्ञ में मुख्य यज्ञार्थी है ।

3. नक्षत्रों में मुख्य चंद्रमा है ।

4. धर्म में मुख्य आदिनाथ प्रभु हैं, क्योंकि उन्होंने ही सर्व प्रथम धर्म का प्रकाशन किया था ।

उसके बाद जयघोष मुनि ने ब्राह्मण के गुण स्वरूप का वर्णन किया ।

अंत में उपदेश देते हुए कहा है–

काम भोग के सेवन से आत्मा कर्मों से लिप्त होती है और संसार में परिभ्रमण करती है । भोग को त्याग करनेवाली आत्मा कर्मों से निर्लेप होकर संसार से मुक्त होती है ।

इन उपदेशों को सुन विजयघोष को सत्य का भान हो गया । संसार को त्यागकर उसने भी भागवती दीक्षा अंगीकार की ।

निर्मल संयम धर्म की आराधना कर दोनों मोक्ष में गए ।

26

सामाचारी अध्ययन

सामायारिं पवक्खामि, सव्व दुक्खविमोक्खांमि ।
जं चरित्ताण निग्गन्था, तिण्णा संसार सागरं ।।

इस अध्ययन में साधु की 10 प्रकार की सामाचारी का विशद वर्णन किया है । इन सामाचारी के आचरण से निग्रंथ साधु संसार सागर से पार हुए है ।

1) आवस्सही : संयम साधना के लिए जरूरी किसी कार्य के लिए साधु उपाश्रय से बाहर जाए, तब द्वार पर **'आवस्सही'** बोलकर जाना चाहिए, उसे आवस्सही सामाचारी कहते है ।

2) निसीहि : उपाश्रय में प्रवेश करते समय निसीहि बोलना, उसे निसीहि सामाचारी कहते है ।

3) आपृच्छना : श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म क्रियाओं को छोड़कर अन्य कुछ भी कार्य करना हो तो सर्वप्रथम गुरु की अनुमति अवश्य लेनी चाहिए, उसे आपृच्छना सामाचारी कहते है ।

4) प्रतिपृच्छा : किसी भी कार्य के लिए गुरु की अनुमति मिली हो तो भी कार्य आरंभ करते समय पुनः गुरु को पूछना, उसे प्रति-पृच्छा सामाचारी कहते हैं ।

5) छंदना : स्वयं गोचरी लेकर आए हों तो अन्य साधुओं को आहार के लिए आमंत्रण देना, उसे छंदना सामाचारी कहते हैं ।

6) इच्छाकार : छोटे-बड़े किसी साधु के पास कुछ भी काम कराना हो तो सर्व प्रथम उनकी इच्छा जानना, फिर काम बताना, उसे इच्छाकार सामाचारी कहते हैं ।

7) मिच्छाकार : जानते-अजानते कुछ भी भूल हो जाय तो अपनी भूल को स्वीकार कर `मिच्छा मि दुक्कड़म्' देना, यह मिच्छाकार सामाचारी है ।

8) तहाकार : गुरु की आज्ञा-उपदेश को `तहत्ति' कहकर स्वीकार करना उसे तहाकार सामाचारी कहते हैं ।

9) अभ्युत्थान : बहुमान के योग्य आचार्य आदि के आगमन पर खड़ा होना । उनके लिए आहार लाना आदि अभ्युत्थान सामाचारी है ।

10) उपसंपदा : ज्ञान आदि की प्राप्ति के लिए अन्य गुरु आदि की निश्रा स्वीकार करना, यह उपसंपदा सामाचारी है ।

इसके बाद साधु की दिनचर्या का वर्णन है । पोरिसी-प्रतिलेखना आदि संबंधी विस्तार से चर्चा है ।

आवस्सही और निसीहि सामाचारी से निष्प्रयोजन गमनागमन पर नियंत्रण का अभ्यास होता है ।

आपृच्छना और प्रतिपृच्छना से श्रमशील और दूसरों के लिए उपयोगी बनने की भावना बढती है ।

इच्छाकार सामाचारी से दूसरों के अनुग्रह का सहर्ष स्वीकार और स्वच्छंदता पर नियंत्रण होता है ।

मिच्छाकार सामाचारी से पापों के प्रति जागृति बढती है ।

तथाकार सामाचारी से हठाग्रह वृत्ति छूटती है ।

छन्दना सामाचारी से अतिथि सत्कार की प्रवृत्ति बढती है ।

अभ्युत्थान सामाचारी से गुरुजनों, की भक्ति बढ़ती है ।

उपसंपदा सामाचारी से ज्ञानादि के आदान–प्रदान द्वारा गुणों की वृद्धि होती है ।

27

खलुंकी अध्ययन

इस अध्ययन में अविनीत-कुशिष्य के लक्षण बतलाए गये हैं ।

वहणे वहमाणस्स कंतारं अइवत्तई ।
जोगे वहमाणस्स संसारं अइवत्तई ।।

सारथी यदि रथ में कमजोर बैल को जोड़ता है तो वह रथ बराबर नहीं चला सकता है । वह रथ स्खलना पाता रहता है, परंतु रथ में यदि मजबूत बैल या घोड़े हों तो वह रथ खूब व्यवस्थित चलता है ।

इसी प्रकार शिष्य यदि सुशिष्य हो तो गुरु स्व-पर उभय का कल्याण कर सकते हैं, परंतु कुशिष्य तो गुरु के चित्त को संतप्त ही रखते हैं ।

गार्ग्य आचार्य भगवंत कुशिष्यों का वर्णन कर कुशिष्य के लक्षण बतलाते हैं ।

1. गुरु के हितोपदेश का स्वीकार न कर गुरु का ही प्रतिकार करते हैं ।

2. गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करते हैं ।

3. जिस प्रकार पक्षी अपनी संतान को आहार आदि खिलाकर पालन पोषण करते हैं, परंतु जैसे ही बच्चे के पंख आ जाते हैं, वह उड़कर कहीं चला जाता है...इसी प्रकार गुरु अपने शिष्य को पढ़ाते हैं, होशियार करते हैं, परंतु अपना कार्य निपटने के साथ ही जो शिष्य गुरु को छोड़ स्वतंत्र विचरण करने लग जाते हैं, वे कुशिष्य ही कहलाते हैं ।

अनुशासन और विनय दोनों रत्नत्रयी की ग्रहणशिक्षा और आसेवन शिक्षा के महत्त्वपूर्ण अंग है । इन दोनों के बिना ज्ञानादि की यथार्थ प्राप्ति नहीं होती और चारित्र की नींव भी सुदृढ़ नहीं होती है ।

अनुशासन विहीन और दुर्विनीत शिष्य या तो उच्छृंखल एवं स्वच्छन्द बन जाता है या तो संयम से ही भ्रष्ट हो जाता है ।

अनुशासन विहीन दुर्विनीत शिष्य दुष्ट बैल की तरह संघ रुपी बैलगाडी और संघाचार्य को हानि करता है । उसे दी गई थोड़ी सी भी प्रतिकूलता या प्रेरणा से वह अग्नि के ताप की तरह संतप्त हो जाता है । वह गुरु प्रत्यनीक, चारित्र में दोष लगाने वाला, असमाधि उत्पन्न करने वाला और कलहकारी होता है । वह दूसरों की चुगली करने वाला, दूसरो को सताने वाला, मर्म रहस्य को प्रकट करने वाला, दूसरों का तिरस्कार करने वाला, श्रमण धर्म के पालन में आलसी एवं स्वभाव से मायावी होता है ।

कुशिष्यपना स्व-पर उभय के लिए अहितकारी हैं, अतः कुशिष्य के योग्य दोषों का जीवन में त्याग करना चाहिए ।

28 मोक्षमार्गीय अध्ययन

इस अध्ययन में महावीर प्रभुने आत्मकल्याण के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप चार प्रकार का मोक्षमार्ग बतलाया है ।

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एय मग्गे सुपन्नत्ते, जिणेहिं वरदंसिहिं ।।

मतिज्ञान आदि ज्ञान के पाँच प्रकार हैं ।

जो जानता है, उसे ज्ञान कहते हैं । ज्ञान द्वारा द्रव्य, गुण और पर्याय का बोध होता है ।

गुण और पर्याय से जो युक्त होता है, उसे द्रव्य कहते हैं ।

जो सदैव द्रव्य के साथ ही रहते हैं, उन्हें गुण कहा जाता है ।

पदार्थ की बदलती हुई अवस्था को पर्याय कहा जाता है ।

जैसे उम्र के साथ मनुष्य की अवस्था बदलती है-बाल्यावस्था में से युवावस्था, युवावस्था से वृद्धावस्था । इन अवस्थाओं को पर्याय कहा जाता है ।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल, ये छह द्रव्य कहलाते हैं ।

इसके बाद सम्यग्दर्शन के निसर्गरुचि आदि दस प्रकार बतलाए हैं ।

चारित्र भी सामायिक आदि 5 प्रकार का है । तप के बाह्य और अभ्यंतर रूप मुख्य दो भेद हैं ।

इस अध्ययन में 1 से 14 वीं गाथा तक ज्ञान और ज्ञेय का निरुपण है, 15 से 31 वीं गाथा तक दर्शन का वर्णन है । 32 से 34 वीं गाथा तक चारित्र का प्रतिपादन है और 35 वीं गाथा में तप के बारे में बताया है ।

मोक्ष प्राप्ति का प्रथम साधन सम्यग्ज्ञान है । ज्ञान के बिना क्रिया अंधी है और क्रिया के बिना ज्ञान पंगु है । अतः इस अध्ययन में सर्व प्रथम ज्ञान के पांच भेद एवं उसके ज्ञेय के रुप में द्रव्य–गुण पर्याय तथा षट्द्रव्य का प्रतिपादन है ।

दूसरा साधन सम्यग्दर्शन है । नौ तत्त्वों के ज्ञान से उन पर श्रद्धा होती है । अतः नौ तत्त्व का स्वरुप बताकर दर्शन के निसर्गरुचि आदि 10 भेद बतलाए है ।

तीसरा साधन सम्यग्चारित्र है । चारित्र के सामायिक आदि पांच भेद बताए है ।

चौथा साधन सम्यग् तप है । तप के बाह्य और अभ्यंतर रुप छह–छह भेद बताए है ।

दर्शन के बिना ज्ञान सम्यग् ज्ञान नहीं है । सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र नहीं है और चारित्र के बिना मोक्ष नहीं है । मोक्ष के बिना समग्र आत्मिक गुणों का परिपूर्ण विकास और भवपरंपरा का अंत नहीं होता है ।

इस अध्ययन में संवेग, निर्वेद, धर्मश्रद्धा, शैलेशीकरण, अकर्मता आदि 73 विषयों पर बहुत ही सुंदर मार्गदर्शन बतलाया है ।

1) संवेग अर्थात् मोक्ष की तीव्र अभिलाषा ।

2) निर्वेद अर्थात् संसार के प्रति तीव्र वैराग्य ।

3) धर्मरुचि अर्थात् धर्म में दृढ़ श्रद्धा ।

इसके बाद संवेग आदि गुणों से होनेवाले आत्मिकलाभ का बहुत ही सुंदर वर्णन किया गया है ।

जैसे-संवेगेण भंते किं जणयइ ?

संवेगेण अणुत्तरं धम्म-सद्धं जणयइ, अणुत्तर-धम्मसद्धाए संवेगं हव्वमागच्छइ, अणंताणुबंधी कोह माण माया लोभे खवइ, नवं च कम्मं न बद्धइ । इत्यादि

शिष्य प्रश्न करता है–हे भगवंत ! संवेग से जीवन क्या प्राप्त करता है ?

गुरु उत्तर देते हैं-संवेग से जीवात्मा को श्रेष्ठ धर्मश्रद्धा पैदा होती है, उस धर्मश्रद्धा से संवेगभाव में तीव्रता आती है, उससे नरक गति का अनुबंध करानेवाले क्रोध आदि अनंतानुबंधी चार कषायों का नाश होता है अथवा नरकादि योग्य नवीन कर्म का बंध नहीं करती है ।

अनंतानुबंधी चार कषायों को नहीं बांधने से आत्मा दर्शन आराधक बनती है, उसके फलस्वरूप क्षायिक आदि सम्यक्त्व प्राप्त कर उसी भव में या तीसरे भव में शाश्वत अजरामर मोक्षपद प्राप्त करती है ।

ऐसी ही अन्य तात्त्विक जिज्ञासा और समाधान इस अध्ययन में दिये है, जिसमें से कुछ यहाँ बताए है–

• शुद्ध आलोचना करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर : शुद्ध आलोचना करने से मोक्षमार्ग में विघ्नभूत और अनंत संसार को बढ़ानेवाले मायाशल्य, नियाणशल्य और मिथ्यात्वशल्य से आत्मा मुक्त बनती है और आत्मा में सरलता पैदा होती है, हृदय में सरलता आने से आत्मा स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का बंध नहीं करती है और पूर्व में बँधे हुए स्त्रीवेद आदि की भी निर्जरा करती है ।

• प्रभु की स्तुति-स्तवना आदि करने से क्या फायदा होता है ?

उत्तर : स्तुति-स्तवना से ज्ञान, दर्शन, चारित्र और बोधि (भविष्य में जैनधर्म) की प्राप्ति होती है, इसके फलस्वरूप आत्मा मोक्षपद प्राप्त करती है तथा जब तक मोक्ष प्राप्त न हो तब तक सौधर्म आदि देवलोक में उत्पन्न होती है ।

• कषाय के प्रत्याख्यान से आत्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर : कषाय के प्रत्याख्यान से आत्मा वीतराग-भाव प्राप्त करती है । वीतराग भाव से आत्मा सुख-दुःख में समभाव प्राप्त करती है ।

इस प्रकार 73 प्रश्नों के बहुत ही सुंदर उत्तर इस अध्ययन में दिये हैं ।

जिनमें अध्यात्म साधना का सच्चा दृष्टिकोण, महत्त्व और लाभ सूचित किया गया है । कह सकते है कि संपूर्ण उत्तराध्ययन सूत्र का सार इस अध्ययन में समा जाता है । छोटे–छोटे सूत्रात्मक प्रश्न और उनके तलस्पर्शी और गंभीर उत्तरों से आध्यात्मिक विकास होता है ।

अंत में योग निरोध, शैलेशी अवस्था का क्रम एवं मुक्त जीवों की गति–स्थिति का निरुपण किया गया है । इस प्रकार संवेग, निर्वेद, श्रद्धा आदि कहे गए 73 विषयों को आत्मसात् करने से आत्मा निःसंदेह मुक्ति के शिखर को प्राप्त करती है ।

30

तपोमार्ग अध्ययन

इस अध्ययन में तप धर्म के स्वरूप का बहुत ही सुंदर वर्णन किया है ।

एवं तु संजयस्या वि पावकम्मनिरासवे ।
भवकोड़ीसंचयं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ।।

अर्थात् – इस प्रकार हिंसा आदि पापकर्मों के आस्त्रव द्वारों को बंद करने पर संयतात्मा बारह प्रकार के तप द्वारा करोड़ों भवों में संचित पापकर्मों की निर्जरा करती है ।

बाह्य और अभ्यंतर के भेद से यह तप दो प्रकार का बतलाया है ।

बाह्य तप के छह भेद–

1. अनशन : चार प्रकार के आहार का त्याग अनशन है । यह अनशन एक उपवास से लेकर छह मास के उपवास तक हो सकता है ।

यह अनशन भी दो प्रकार का है 1) अल्पकालीन और 2) जीवन पर्यंत ।

अल्पकालीन अनशन नवकारसी आदि अनेक प्रकार का है । यावज्जीवन अनशन भी भक्तपरिज्ञा, इंगिनीमरण और पादपोपगमन अनशन के भेद से तीन प्रकार का है ।

2. ऊणोदरी : भूख से एक आदि कवल कम आहार करना । और पर्याय के भेद से पाँच प्रकार का है ।

3. भिक्षा चर्या : यह भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भिक्षा हेतु भ्रमण करते समय ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं रखना ।

4. रस त्याग : दूध आदि विगई का त्याग करना ।

5. कायक्लेश : शीत आदि परीषहों को समतापूर्वक सहन करना ।

6. संलीनता : अंग-उपांग का संकोच करना ।

अभ्यंतर तप के छह भेद :–

1. प्रायश्चित्त : गुरु के सामने अपने पाप को प्रकट करना ।

2. विनय : गुरु के आगमन पर खड़े होना, हाथ जोड़ना, उन्हें आसन दान करना, उनकी सेवा-शुश्रूषा करना, उनकी आज्ञा का पालन करना इत्यादि ।

3. वैयावच्च : आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, नूतन दीक्षित, साधर्मिक, कुल, गण व संघ की सेवाभक्ति करना ।

4. स्वाध्याय : वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा रूप पाँच प्रकार का स्वाध्याय करना ।

5. कायोत्सर्ग : जिनमुद्रा में खड़े रहकर काया की ममता छोड़कर कायोत्सर्ग करना ।

6. ध्यान : आर्त व रौद्र ध्यान छोड़कर धर्म व शुक्ल ध्यान में स्थिर रहना ।

बाह्य तप के आचरण से शरीर के प्रति आसक्ति, स्वादलोलुपता, कष्ट असहिष्णुता, भोजन की लालसा आदि कई दोष छूट जाते हैं । देह की रक्षा धर्म साधना के लिए आवश्यक है परंतु उसके प्रति आसक्ति से जीवन में विलासता और प्रमाद आदि दोषों को जन्म देती है । अतः देह के प्रति रही आसक्ति को छोड़ने के लिए बाह्य तप का आचरण लाभदायी है ।

बाह्य तप का आचरण भी तभी यथार्थ माना जाता है, जब वह अभ्यंतर तप के साथ संलग्न है । प्रायश्चित्त से साधना में लगे दोषों की शुद्धि एवं नये अतिचार न लगाने की जागृति पैदा होती है । विनय से जीवन में अभिमान मुक्ति, आठ प्रकार के मद का त्याग एवं पारस्परिक सहयोग वृत्ति बढ़ती है । वैयावच्च से सेवाभाव और सहिष्णुता बढती है । स्वाध्याय से विकथा त्याग एवं व्यर्थ के वादविवाद से मुक्ति मिलती है । कायोत्सर्ग से शरीर, उपकरण आदि पर रहे ममत्त्व का त्याग होता है । और ध्यान से चित्त की एकाग्रता, अशुभ ध्यान का त्याग और पाप मुक्ति होती है ।

तप का आचरण सम्यक् प्रकार से हो इसलिए तप के साथ माया, निदान, भोगाकांक्षा, लौकिक फलाकांक्षा आदि दूषणों का त्याग खूब जरुरी है । इस प्रकार का तप ही मोक्ष प्राप्ति और कर्म मुक्ति का कारण बनता है ।

31

चरणविधि अध्ययन

रागद्दोसे य दो पावे, पाव कम्मपवत्तणे ।
जे भिक्खू रुंभइ निच्चं, से न अच्छइ मंड़ले ।।

आत्मा को मलिन करनेवाले राग और द्वेष ये दो मुख्य पाप हैं जो आत्मा को मिथ्यात्व आदि पापकर्म में प्रवृत्ति कराने वाले हैं । जो आत्मा इन दो पापों का निरोध करती है, वह आत्मा इस संसार में भ्रमण नहीं करती है ।

जो साधु मनदंड़, वचनदंड़ और कायदंड़ रूप तीनदंड़, रस गारव, ऋद्धिगारव और शाता गारव रूपी तीन गारव; माया शल्य, नियाण शल्य और मिथ्यात्व शल्य रूपी तीनों शल्यों में प्रवृत्ति नहीं करता हैं, वह साधु संसार में नहीं भटकता है ।

जो साधु दिव्य, मनुष्य व तिर्यंच संबंधी परीषह-उपसर्गों को समतापूर्वक सहन करता है, वह साधु इस संसार में नहीं भटकता है ।

जो साधु स्त्रीकथा आदि चार विकथा, क्रोध आदि चार कषाय, आहार आदि चार संज्ञाओं में प्रवृत्त नहीं होता है, वह साधु संसार में नहीं भटकता है ।

जो साधु हिंसा आदि पाँच पाप, शब्द आदि पाँच विषयों में प्रवृत्त नहीं होता है, वह साधु संसार में नहीं भटकता है ।

जो साधु छः काय के जीवों की रक्षा के लिए सतत प्रयत्नशील होता है, कृष्ण, नील और कापोतलेश्या का त्यागकर सतत तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या में लीन बनता है, वह साधु संसार में नहीं भटकता है ।

जो साधु क्षुधा आदि 22 परीषहों को समतापूर्वक सहन करता है, वह साधु संसार में परिभ्रमण नहीं करता है ।

चारित्र विधि का अर्थ है—चारित्र में विवेक पूर्वक प्रवृत्ति करना। चारित्र का प्रारंभ असंयम से निवृत्ति और विवेक पूर्वक संयम में प्रवृत्ति से होता है। इस अध्ययन में आराधना—साधना करते हुए जिन विषयों का स्वीकार और त्याग करना चाहिए, उसका निर्देश किया है।

निष्कर्ष यह है कि साधक को दुष्प्रवृत्तियों से दूर रहकर सत्प्रवृत्ति और संयम के आचरणों में प्रवृत्त रहना चाहिए। इसका परिणाम संसार चक्र के परिभ्रमण से मुक्ति की प्राप्ति करना है।

32 प्रमाद स्थान अध्ययन

इस अध्ययन में मोक्ष के साधनभूत ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्राप्ति के उपायों का वर्णन कर संयम जीवन में प्रमादस्थानों के त्याग का उपदेश दिया है।

सर्व प्रथम दर्शन-ज्ञान प्राप्ति का उपाय बतलाते हुए कहा गया है– धर्माचार्य जैसे गुरु, तप, श्रुत और पर्याय से वृद्ध महात्माओं की सेवा भक्ति करनी चाहिए।

ज्ञानप्राप्ति हेतु मूर्खजन की संगति छोड़ देनी चाहिए। वाचना, पृच्छना आदि स्वाध्याय के पाँच प्रकारों का पालन करना चाहिए।

सूत्र अर्थ का बराबर चिंतन करना चाहिए।

समाधि प्राप्ति के लिए दोष रहित निर्दोष आहार ग्रहण करना चाहिए।

प्रमाणोपेत आहार लेना चाहिए, भूख से अधिक नहीं।

रसा पकामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तकरा नराणां।
दित्तं च कामा समभि हवंति, दुमं जहा सादु फलं व पक्खी ।।

अर्थात्–जो राग-द्वेष और मोह का उन्मूलन करना चाहता हैं, उसे दूध, दही आदि रसों का अधिक प्रमाण में सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये रस धातु को उद्दीप्त करनेवाले होते हैं । उससे कामवासना जागृत होती है ।

- भूख से अधिक प्रमाण में किया गया भोजन भी ब्रह्मचर्य का नाश करता है ।
- **जो प्राणी रूप में अत्यंत आसक्त बनता है, वह अकालमृत्यु प्राप्त करता है ।**

इसके बाद श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय व स्पर्शनेन्द्रिय की पराधीनता के भयंकर दोषों का वर्णन किया गया है ।

अंत में, पाँच इन्द्रियों की विरक्ति के लाभ बतलाए हैं ।

जो पुण्यशाली आत्मा, शब्द आदि काम-भोगों में आसक्त नहीं बनती है, वह वीतराग अवस्था प्राप्तकर सकल कर्मों का क्षयकर अजरामर मोक्ष अवस्था प्राप्त करती है ।

मोक्ष की साधना में प्रमाद सबसे बड़ा आत्मिक शत्रु है । सामान्यतया प्रमाद के मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा ये पांच प्रकार है । इस अध्ययन में अज्ञान, संशय, मिथ्याज्ञान, राग, द्वेष, स्मृतिभ्रंश, धर्म के प्रति अनादर और मन, वचन, काया के दुष्प्रणिधान रुप आठ प्रकार बताए है । ये अज्ञान, संशय आदि प्रमाद स्थान संसार के समस्त दु:खों का मूल है । इनसे दूर रहने से ही आत्मा के ज्ञान का प्रकाश और राग–द्वेषादि का क्षय होना शक्य है ।

33

कर्म प्रकृति अध्ययन

अट्ठ कम्माइं वोच्छामि आणुपुव्विं जहक्कमं ।
जेहिं बद्धो अयं जीवो संसारे परिवट्टई ।।

राग–द्वेष के कारण आत्मा के साथ कर्म पुद्गल क्षीर–नीर की तरह एकमेक हो जाते है । वे जब तक रहते है, तब तक आत्मा चार गतियों में विविध प्रकार की योनियों में उत्पन्न होकर विविध प्रकार के शरीरों को धारण करती है । इसी कारण आत्मा का संसार चलता रहता है और प्रत्येक भव में आत्मा भयंकर से भयंकर दुःखों को सहन करती रहती है । इन दुःखों से मुक्त होने के लिए आत्मा को कर्म से मुक्त होना जरुरी है ।

कर्मों से मुक्ति पाने के लिए पहले कर्मों के स्वरुप को जानना जरुरी है तथा उन्हें जानकर उनके बन्ध से बचने के उपाय करने चाहिए । इसी उद्देश्य से इस अध्ययन में आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियों का बहुत ही सुंदर वर्णन किया गया है ।

1. ज्ञानावरणीय कर्म के मतिज्ञानावरणीय आदि 5 भेद हैं ।

2. दर्शनावरणीय कर्म के निद्रा आदि 9 भेद हैं ।

3. वेदनीय कर्म के शाता और अशाता, ये 2 भेद हैं ।

4. मोहनीय कर्म के समकित मोहनीय आदि 28 भेद हैं ।

5. आयुष्य कर्म के नरक आयुष्य आदि 4 भेद हैं ।

6. नाम कर्म के त्रस दशक आदि 103 भेद हैं ।

7. गोत्र कर्म के उच्च गोत्र आदि 2 भेद हैं ।

8. अंतराय कर्म के दानांतराय आदि 5 भेद हैं ।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अंतराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 30 कोड़ाकोड़ी सागरोपम है । नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 20 कोड़ाकोड़ी सागरोपम है ।

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 70 कोड़ाकोड़ी सागरोपम और आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 33 सागरोपम है ।

तीव्र परिणामों से बंधे हुए कर्म का विपाक भी तीव्र होता है और मन्द परिणामों से बंधे हुए कर्म का विपाक भी मंद होता है । कर्म का विपाक यानी कर्म के उदय में आने पर उसका अनुभव ।

ये आठों कर्म अपने स्वभाव के अनुसार आत्मा पर अच्छी–बूरी असर करते है । इनके स्वभावों को समझने इन्हे भिन्न भिन्न उपमाए दी गई है ।

आत्मा, स्वभाव से ज्ञान और दर्शन के उपयोगमय है । आत्मा के भीतर ही अनंत ज्ञान रहा हुआ है परंतु जैसे आँखों पर कपडे आदि का आवरण आने से देखा नहीं जाता है वैसे ही ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को आवृत्त करता है ।

दर्शनावरणीय कर्म द्वारपाल की तरह आत्मा के दर्शन गुण को आवृत्त करता है ।

वेदनीय कर्म शहद से लिप्त तलवार की तरह है, जिसे चाँटने पर मीठे स्वाद के सुख के साथ जीभ कटने का दु:ख भी होता है । वह आत्मा के अव्याबाध सुख का घात कर संसार में सुख–दु:ख का कारण बनता है ।

मोहनीय कर्म आत्मा को भ्रमित करता है । जैसे मदिरा पान से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है वैसे मोहनीय कर्म से आत्मा अपने वीतरागता आदि मौलिक गुणों से भ्रष्ट हो जाती है ।

आयुष्य कर्म बेडी के समान है, जो आत्मा को पूर्वनिश्चित आयुष्य के काल तक चारों गतियों में बंधे रखता है ।

नामकर्म अरुपी आत्मा को भी विविध शरीर, रुप आदि देकर चित्रकार की भांति चित्रित करता है ।

गोत्र कर्म कुम्भकार की तरह ऊँचे नीचे गोत्र में विविध रुप में विडंबनाएं करता है ।

तथा अंतराय कर्म आत्मा की दानादि शुभाशुभ कार्यों में कोषाध्यक्ष की तरह अवरोध लाने का कार्य करता है ।

इन आठ कर्मों में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय कर्म घाति कर्म होने से आत्मा के गुणों का सीधा घात करते है । तथा वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र कर्म अघाति कर्म होने से घाति कर्मों को सहायता एवं ससार में रहते सुख–दुःख प्रदान करते है । इन आठ कर्मों के बन्धनों से मुक्ति ही आत्मा की संसार से मुक्ति है ।

34 लेश्या अध्ययन

किण्हा नीला य काऊ य तेऊ पम्हा तहेव य ।
सुक्कलेसा य छट्ठा य नामाइं तु जहक्कमं ।।

जिस प्रकार स्फटिक के आगे काले रंग आदि के विभिन्न द्रव्यों का संयोग होने पर वह स्फटिक उसी के रंग–रुप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी राग–द्वेष–कषाय आदि विभिन्न संयोगों से अथवा मन–वचन–काया के योगों से वैसे ही रुप में परिणत हो जाती है, जिसके द्वारा आत्मा का कर्म के साथ संयोग (संश्लेष) होता है, उसे लेश्या कहते है । लेश्या के आधार पर ही कर्मों की स्थिति निश्चित होती है ।

इस अध्ययन में लेश्याओं के विविध पहलुओं से विश्लेषण करने हेतु 11 द्वारों का उल्लेख किया है –

1) नाम द्वार, 2) वर्ण द्वार, 3) रस द्वार, 4) गन्ध द्वार, 5) स्पर्श द्वार, 6) परिणाम द्वार, 7) लक्षण द्वार, 8) स्थान द्वार, 9) स्थिति द्वार, 10) गति द्वार और 11) आयुष्य द्वार ।

परिणाम की अशुभतम, अशुभतर, अशुभ, शुभ, शुभतर और शुभतम धारा के अनुसार लेश्या के छह प्रकार बनते है जिनके नाम है 1) कृष्ण लेश्या, 2) नील लेश्या 3) कापोत लेश्या 4) तेजो लेश्या 5) पद्म लेश्या और 6) शुक्ल लेश्या ।

इन छह लेश्याओं में कृष्ण लेश्या आदि 3 अशुभ और तेजो लेश्या आदि 3 शुभ लेश्याएँ है ।

अंतिम समय में जीवात्मा की जैसी लेश्या होती है, उसके अनुसार ही आत्मा की गति होती है अर्थात् शुभलेश्या हो तो सद्‌गति और अशुभलेश्या हो तो दुर्गति होती है ।

व्यक्ति की बाह्य रचना, उसके अंतरंग परिणाम, भाव, अध्यवसाय या मनोवृत्ति के आधार पर होती है । जिस व्यक्ति के जैसे मानसिक परिणाम होते है, उसी के अनुसार उसके शरीर की कांति, छाया, प्रभा या आभा बनती है । उसी के अनुरुप उसके वर्ण–गंध–रस और स्पर्श होते है । राग–द्वेष और कषायों की आंतरिक परिणति भी उसके मनोभाव के अनुसार बन जाती है । उसके अनुसार ही शुभाशुभ विचारधारा और सजातीय विचाराणु खीचे जाते है । फिर उसके अनुसार कर्म परमाणु का संचय होता है ।

जीवन के अंतिम समय में पूर्व प्रतिबद्ध संस्कारों के अनुसार परिणति होती है, जिससे वैसी ही लेश्या के बहुलता वाली गति में आत्मा चली जाती है । इसी को जैन दर्शन में लेश्या कहते है ।

• आधुनिक मनोविज्ञान या भौतिक विज्ञान ने मानव के मस्तिष्क में स्फुरित होने वाले क्रोधादि भाव या मन–वचन–काया के शुभाशुभ परिणाम या व्यापार से प्रभावित होनेवाले विचारों का प्रत्यक्षी–करण एवं

तदनुरूप रंगों के चित्र लेने में सफलता प्राप्त की है । वे चित्र कुछ और नहीं बल्कि लेश्या ही है ।

• इस अध्ययन के छठे परिणाम द्वार से एक बात स्पष्ट होती है कि मनुष्य चाहे तो कृष्णादि अशुभ लेश्याओं को शुभ लेश्या में परिवर्तन कर सकता है ।

अध्ययन का सार यही है कि-आत्मा के अध्यवसायों की विशुद्धि और अशुद्धि, लेश्याओं की विशुद्धि और अशुद्धि पर आधारित है । कषायों की मंदता से अध्यवसाय की शुद्धि होती है और अंतरंग शुद्धि के आधार पर बाह्य दोषों की भी शुद्धि होती है ।

35 अणगार मार्ग अध्ययन

गिहवासं परिच्चज्ज पवज्जमस्सिए मुणी ।
इमे संगे वियाणिज्जा जेहिं सज्जन्ति माणवा ।।

अगार का अर्थ गृह होता है । जो घरबार, स्वजन–परिजन, गृह कार्य और व्यापार धंधा आदि को छोडकर, भिक्षा वृत्ति से जीवन निर्वाह करते है, उन्हें अणगार कहते है ।

वैसे तो मोक्ष मार्ग हेतु तीर्थंकर परमात्मा ने अणगार धर्म और अगार धर्म के रुप में साधु जीवन और श्रावक जीवन बताया है, किन्तु दोनों धर्मो की आराधना में बहुत बड़ा अन्तर है ।

साधु जीवन के पालन में महाव्रतों का आचरण होता है, जबकि श्रावक जीवन के पालन में अणुव्रतों का आचरण होता है । साधु और श्रावकों के व्रतों में मेरु पर्वत और सरसव के दाने जितना अन्तर है ।

इस अध्ययन में गृहस्थ धर्म और साधु धर्म के बीच में जो अन्तर है, उसका निर्देश किया है ।

गृहस्थ अपने जीवन में पुत्र-पत्नी आदि स्वजनों के संग का पूर्णतः त्याग नहीं कर सकता है । जबकि साधु पुत्र-पत्नी आदि स्वजनों के संग का सर्वथा त्याग करता हैं ।

गृहस्थ के अणुव्रत की प्रतिज्ञा छह कोटि के स्वरुप में मात्र मन–वचन और काया के करण और करावण की है । जबकि साधु के महाव्रत की प्रतिज्ञा नौ कोटि के स्वरुप में मन–वचन और काया के द्वारा करण, करावण और अनुमोदन की भी है ।

गृहस्थ अपने रहने के लिए मकान बनाता है अथवा बनवाता है उसमें रंग–रोगान, धूलाई–पुताई आदि मरम्मत कराकर सुवासित एवं सुदृढ़ करवाता है । जबकि साधु सर्वथा आरंभ–समारंभ से मुक्त है । वह अपने रहने के लिए सुंदर, आकर्षक एवं धूप–मालाओं से सुगंधिक ऐसे घर की मन से भी इच्छा न करे । साधु अपना स्वयं का घर न बनावे क्योंकि गृहारंभ में भयंकर हिंसा रही हुई है ।

गृहस्थ रसोई बनाता या बनवाता है, वह भिक्षा लेने का अधिकारी नहीं है । जबकि साधु भिक्षा वृत्ति के द्वारा ही अपना जीवन यापन करे । भोजन पकाने में छह–काय जीवों की हिंसा होती है । अतः साधु स्वयं भोजन न पकावे ।

गृहस्थ अपने गृहस्थ कार्य–विवाहादि अन्य सभी खर्च का निर्वाह करने के लिए व्यवसाय नोकरी आदि करके धन संचय करता है । सोना–चांदी आदि मूल्यवान पदार्थों का संग्रह करता है, जबकि साधु न तो धन–धान्यादि का संचय करता है, न ही सोना–चांदी का संग्रह करता है । वह सोना–चांदी आदि धन की मन से भी इच्छा न करे । वह किसी चीज को खरीद या बेच कर व्यापार न करे, किन्तु निर्दोष भिक्षा वृत्ति से अन्न–वस्त्रादि का ग्रहण करे ।

गृहस्थ अपनी जिह्वा पर नियंत्रण न होने से स्वाद की लोलुपता में स्वादिष्ट भोजन बनाता और करता है । जबकि साधु स्वाद पर विजय करता हुआ मात्र संयम निर्वाह के लिए आहार ग्रहण करता है ।

गृहस्थ अपनी पूजा–प्रतिष्ठा, सत्कार–सन्मान के लिए भरसक प्रयत्न करता है। चुनाव आदि लडकर प्रचुर धन का खर्च भी करता है। जबकि साधु अपने मान–सन्मान, स्तुति–वंदन तथा ऋद्धि–समृद्धि की मन से भी इच्छा न करे।

गृहस्थ पूर्णतया अकिंचन नहीं हो सकता है। उसे धन–स्वजन एवं शरीर के प्रति ममत्त्व रहता है। जबकि साधु अकिंचन, निदान रहित और शरीर के प्रति ममत्त्व का त्याग करके आत्म ध्यान में एकाकार बनकर देहाध्यास से मुक्त बनने का प्रयत्न करता है।

इस प्रकार संक्षेप में कहे तो–

इस अध्ययन में गृहवास का त्याग करने के बाद साधु को कैसा जीवन जीना चाहिए ? उसका बहुत ही सुंदर वर्णन है।

- दीक्षा अंगीकार करने के बाद साधु को हिंसा आदि 5 पापों से सर्वथा बचना चाहिए।
- **साधु रहने के लिए सुंदर, आकर्षक व धूप-मालाओं से सुगंधित ऐसे घर की मन से भी इच्छा न करे।**
- साधु अपना स्वयं का घर न बनावे, क्योंकि गृहारंभ में भयंकर हिंसा रही हुई है।
- **भोजन पकाने में त्रस व स्थावर जीवों की हिंसा रही हुई होने के कारण साधु स्वयं भोजन न पकावे।**
- सोना चांदी आदि धन की साधु मन से भी इच्छा न करे।
- **साधु अपने मान-सम्मान, स्तुति-वंदन तथा ऋद्धि-समृद्धि की मन से भी इच्छा न करे।**

36 जीव-अजीव विभक्ति अध्ययन

दव्वओ खेत्तओ चेव कालओ भावओ तहा ।
परूवणा तेसिं भवे जीवाणमजीवाण य ।।

इस अध्ययन में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अजीव तत्त्वों का विशद स्वरूप बतलाया है ।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीन द्रव्य सदा काल अपने स्वरूप में रहे हुए हैं । उनके स्वभाव आदि में कभी परिवर्तन नहीं होता है । ये तीनों द्रव्य अनादि-अनंत काल तक एक ही स्थिति में हैं ।

जबकि रूपी ऐसे पुद्गल द्रव्य में परिवर्तन आता रहता है । द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से उसका स्वरूप बदलता रहता है ।

पुद्गल के स्कंध व परमाणुओं की उत्कृष्ट स्थिति असंख्य वर्ष की है, उसके बाद उनके स्वरूप में परिवर्तन आता ही है ।

उसके बाद जीव तत्त्व के स्वरूप का विस्तृत वर्णन है ।

यह लोक जीव और अजीव अर्थात् चेतन और जड पदार्थ का ही विस्तार है । जीव–अजीव द्रव्य से भरे आकाश खण्ड को ही लोक कहा जाता है । इनसे रहित जो आकाश खण्ड है, उसे अलोक कहा जाता है । यह लोक अनादि काल से है और अनंत काल तक रहने वाला है । इसका न कोई कर्ता है, न ही धर्ता है और न ही कोई विनाश कर्ता है ।

जगत् में जितने भी ज्ञेय तत्त्व है, वे सभी जीव–अजीव के संयोग और वियोग के आधार पर ही है । क्योंकि जब तक जीव के साथ कर्मपुद्गलों या अन्य सांसारिक पदार्थों का संयोग रहता है, तब तक ही

उसे जन्म–मरण करना पड़ता है । जीव के देह, इन्द्रिय, मन, भाषा, सुख–दुःख आदि सभी इस संयोग के कारण ही है । यदि जीवात्मा राग–द्वेष जनित कर्मबन्धन का अंत कर ले तो संसार रुप भव भ्रमण का कार्य स्वतः ही समाप्त हो सकता है ।

संसार में रहे सभी जीवों का कर्म के साथ संयोग कभी मिट नहीं सकता । फिर भी एक आत्मा के आश्रय से रहा यह संयोग साधना के द्वारा अवश्य मिटाया जा सकता है । इसके लिए साधक आत्मा को जीव–अजीव का भेद ज्ञान करना जरुरी है । जीव–अजीव का भेद ज्ञान करना ही तत्त्वज्ञान का फल है ।

इस अध्ययन में जीव के मुख्य दो भेद बताए है–सिद्ध और संसारी । सिद्ध के क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ आदि की अपेक्षा से अनेक भेद बताए गए है । फिर संसारी जीवों के स्थावर और त्रस में स्थावर के पृथ्वीकाय आदि तीन और त्रस के तेजस्काय, वायुकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरीन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय भेद बताए है ।

पंचेन्द्रिय के नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव के भेद–प्रभेद एवं उनके क्षेत्र और काल का निरुपण किया है । इन जीव और अजीव के स्वरुप का श्रवण, ज्ञान, श्रद्धा करके उसके अनुरुप संयम में रमणता का विधान किया गया है ।

अंत में संलेखना व्रत का वर्णन है ।

उत्कृष्ट से यह संलेखना 12 वर्ष की व जघन्य से छह मास की होती है ।

संलेखना अर्थात् द्रव्य और भाव से कृश करना । द्रव्य से संलेखना द्वारा शरीर को कृश किया जाता है और भाव संलेखना द्वारा कषायों को कृश किया जाता है ।

समाधि में बाधक ऐसी कंदर्प भावना, अभियोगी भावना, मोह भावना, असुर भावना आदि से अपने मन को मुक्त करना चाहिए ।

जो जीव मिथ्यादर्शन में अनुरक्त होते हैं, जो इस लोक या परलोक संबंधी नियाणा करते हैं, जो हिंसा करते हुए मरते हैं, वे जीव दुर्लभबोधि बनते हैं, उन्हें भवांतर में जिनधर्म की प्राप्ति नहीं होती है ।

जो जीव सम्यग्दर्शन में अनुरक्त होते हैं, नियाणा रहित होते हैं, देव-गुरु-धर्म में अनुरागी होते हैं, उन जीवों के लिए भवांतर में बोधि की प्राप्ति सुलभ होती है ।

जो जीव जिनवचन में अनुरागी होते हैं और भावपूर्वक जिनाज्ञा का पालन करते हैं, जिनका हृदय मिथ्यात्व आदि मल से रहित है और जो संक्लेशमुक्त है, वे आत्माएँ अल्प भवों में ही भवबंधन से मुक्त होकर शाश्वत अजरामर मोक्षपद प्राप्त करती हैं ।

जो जीव जिनवचन के प्रति आदर भाव वाले नहीं होते हैं और बाल मरण से मरते हैं, वे दीर्घसंसारी होते हैं ।

भगवान महावीर की इस अंतिम देशना को सुनकर उसे जीवन में आत्मसात् करने का प्रयास करेंगे तो इस देशना का श्रवण हमारे लिए हितकर सिद्ध हो सकेगा ।

जो जीव मिथ्यादर्शन में अनुरक्त होते हैं, जो इस लोक या परलोक संबंधी नियाणा करते हैं, जो हिंसा करते हुए मरते हैं, वे जीव दुर्लभबोधि बनते हैं, उन्हें भवांतर में जिनधर्म की प्राप्ति नहीं होती है ।

जो जीव सम्यग्दर्शन में अनुरक्त होते हैं, नियाणा रहित होते हैं, देव-गुरु-धर्म में अनुरागी होते हैं, उन जीवों के लिए भवांतर में बोधि की प्राप्ति सुलभ होती है ।

भगवान महावीर की इस अंतिम देशना को सुनकर उसे जीवन में आत्मसात् करने का प्रयास करेंगे तो इस देशना का श्रवण हमारे लिए हितकर सिद्ध हो सकेगा ।

दीपावली-प्रवचन

कार्त्तिक (आश्विन गुज.) अमावस्या

पुमर्था इह चत्वार, कामार्थौ तत्र जन्मिनाम् ।
अर्थभूतौ नामघेयादनर्थौ परमार्थतः ।।

चरम तीर्थपति देवाधिदेव भगवान महावीर प्रभु के निर्वाणकल्याणक का दिन अर्थात् दीपावली पर्व ।

प्रत्येक तीर्थंकर परमात्मा के जीवन में कुल 5-5 कल्याणक होते हैं ।

कल्याणक अर्थात् जगत् के जीवों का कल्याण करनेवाला । तीर्थंकर परमात्मा के च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण के दिन कल्याणक कहलाते हैं । प्रभु के च्यवन आदि कल्याणक के दिनों में नरक के जीवों को भी थोड़ी देर के लिए साता का अनुभव होता है । नरक के गाढ़ अंधकार के बीच भी प्रकाश फैल जाता है । चौदह राजलोक में रहे सभी जीवों को थोड़ी देर के लिए साता होती है ।

तारक तीर्थंकर परमात्मा के कल्याणक दिनों की आराधना करने से अपनी आत्मा का भी कल्याण होता है ।

यद्यपि इस अवसर्पिणी काल में भरत क्षेत्र में 24 तीर्थंकर परमात्मा हुए हैं, फिर भी निकटता की दृष्टि से 24 वें तीर्थंकर महावीर प्रभु का हमारे ऊपर असीम उपकार है ।

इस भरतक्षेत्र में महावीर प्रभु अंतिम तीर्थंकर थे । उनके बाद इस अवसर्पिणी काल में कोई तीर्थंकर होने वाला नहीं । भविष्य में पुनः उत्सर्पिणी काल के तीसरे आरे में तीर्थंकर होंगे । इस प्रकार महावीर प्रभु के 84000 वर्ष बाद पुनः तीर्थंकर होंगे । इस कारण भी वीर प्रभु के निर्वाण कल्याणक का महत्त्व सबसे अधिक है ।

वीर प्रभु की करुणा

केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद तारक तीर्थंकर परमात्मा प्रतिदिन पहले और अंतिम प्रहर में धर्मदेशना देते हैं, यह उनका कल्प कहलाता है, परंतु महावीर प्रभु ने अपने निर्वाण के पूर्व 16 प्रहर तक धर्मदेशना देकर भव्य जीवों पर महान् उपकार किया था ।

दीपावली छट्ठ की आराधना

निर्वाण के पूर्व वीरप्रभु ने छट्ठ तप की आराधना की थी । प्रभु के उस तप की याद में यहाँ भी छट्ठ तप की सामुदायिक आराधना-तपश्चर्या रखी गई है ।

वीर प्रभु के निर्वाण से प्रभु को तो कोई नुकसान नहीं हुआ-उन्होंने तो अजरामर मोक्ष पद प्राप्त किया, परंतु हमें तो बड़ी क्षति ही हुई है ।

प्रभु के निर्वाण को हम दीपावली की मध्यरात्रि के बाद तीसरे प्रहर के अंत में सामुदायिक देववंदन करके मनाते हैं ।

दीपावली लोकोत्तर पर्व है । कर्म के बंधन से छूटने के लिए जैन शासन में दीपावली यह लोकोत्तर पर्व है । इस पर्व के साथ तप-जप की साधना जुड़ी हुई है । छट्ठ का तप और प्रभु नाम का जप, इस पर्व से जुड़ा है, परंतु कई अज्ञानी लोगों ने इसे लौकिक पर्व बना दिया है ।

अच्छा खाना-पीना, अच्छे कपड़े पहिनना और मौज-मजा करना यह लौकिक पर्व का उद्देश्य होता है, जबकि लोकोत्तर पर्व हमें त्याग और वैराग्य का संदेश सुनाते हैं ।

ऐसे महान् पर्व के शुभ दिन कई अज्ञानी लोग फटाके आदि फोड़कर भयंकर पापकर्म का बंध करते हैं ।

प्रभु की अंतिम देशना

ऋजुवालिका नदी के तट पर केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद वहाँ क्षणभर देशना देने के बाद वीर प्रभु अपापापुरी पधारे थे और वहाँ

धर्मदेशना देकर, अपने इन्द्रभूति आदि को प्रतिबोध देकर धर्मशासन की स्थापना की थी...उसी नगरी में प्रभु ने अपनी अंतिमदेशना दी थी, इस प्रकार प्रभु की प्रथम और अंतिम देशना का सौभाग्य इसी अपापापुरी नगरी को मिला था, जो आज पावापुरी के नाम से प्रसिद्ध है ।

वीर प्रभु की इस अंतिम देशना को सुनने के लिए नव मल्ली और नव लच्छी आदि अनेक राजा भी उपस्थित थे ।

तारक महावीर प्रभु ने अपनी अंतिम देशना में पुण्य के विपाक को बतानेवाले 55 अध्ययन, पाप के विपाक को बतानेवाले 55 अध्ययन तथा नहीं पूछे गए प्रश्नों के 36 अध्ययन कहे, जो आज भी 'उत्तराध्ययन सूत्र' के रूप में विद्यमान है ।

उत्तराध्ययन सूत्र के कुल 36 अध्ययन हैं, जो प्रभु की अंतिम देशना के रूप से प्रसिद्ध हैं ।

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरिजी म. ने अपने जीवनकाल दरम्यान 3½ करोड़ श्लोक प्रमाण संस्कृत-प्राकृत साहित्य का सर्जन किया था । ज्ञान की देवी सरस्वती की कृपा प्राप्त करनेवाले हेमचन्द्रसूरिजी म. ने इस अवसर्पिणी काल में हुए 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 9 वासुदेव और 9 प्रतिवासुदेव रूप 63 शलाका पुरुषों के विस्तृत जीवन चरित्र को **'त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र ग्रंथ'** के रूप में गूंथा है ।

इस चरित्र ग्रंथ में उन्होंने सभी तीर्थंकरों के सम्यक्त्वप्राप्ति से लेकर निर्वाणप्राप्ति तक के चरित्र का विस्तार से वर्णन किया है । इसमें भगवान महावीर प्रभु के 27 भवों का विस्तृत वर्णन और प्रभु की विविध स्थलों में दी गई देशनाओं का सुंदर संकलन है ।

वीर प्रभु ने जो अंतिम देशना दी, उसका सारभूत अवतरण कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरिजी म. ने त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र के 10 वें पर्व में सिर्फ चार श्लोकों के द्वारा किया है । इन चार श्लोकों के द्वारा उन्होंने गागर में सागर भर दिया है । आज के इस प्रवचन में उन्हीं श्लोकों के आधार पर विवेचन करने की कोशिश करूंगा ।

महावीर प्रभु ने अपनी देशना में कहा, ``इस संसार में जीवात्मा के चार प्रकार के पुरुषार्थ प्रसिद्ध हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ कहलाते हैं, परंतु इन चारों में अर्थ और काम तो नाम के ही पुरुषार्थ हैं। परिणामस्वरूप तो वे अनर्थ को ही पैदा करनेवाले हैं।''

अर्थ अर्थात् धन और काम अर्थात् पाँचों इन्द्रियों के विषय-भोग। अनादिकाल से आत्मा में अर्थ अर्थात् धन की तथा काम अर्थात् मैथुन की संज्ञाएँ रही हुई हैं।

एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के हर भव में जीवात्मा को स्पर्शनेन्द्रिय अवश्य प्राप्त हुई है। एकेन्द्रिय के भव में रसनेन्द्रिय आदि नहीं थी, बेइन्द्रिय के भव में घ्राणेन्द्रिय आदि नहीं थीं। तेइन्द्रिय के भव में चक्षु इन्द्रिय आदि नहीं थी तो चउरिन्द्रिय के भव में कर्णेन्द्रिय नहीं थी, परन्तु स्पर्शनेन्द्रिय तो हर आत्मा को हर भव में मिली है। इस कारण स्पर्शनेन्द्रिय के सुख की आसक्ति हर आत्मा को हर भव में रही हुई है।

यद्यपि मनुष्यभव में आहार आदि चारों संज्ञाएँ होती हैं, फिर भी मैथुन संज्ञा का खूब जोर होता है। यौवन के प्रांगण में प्रवेश करते ही अनादि काल से आत्मा में सुषुप्त अवस्था में रही कामवासनाएँ जागृत हो जाती है।

यौवन, एकांत, अंधकार, रसप्रद भोजन, अश्लील-फिल्में आदि काम वासना के उत्तेजक पदार्थ हैं।

कामवासना में अंधा बना हुआ व्यक्ति अपने जीवन में कौन-कौन से पाप नहीं करता है ?

कामांध व्यक्ति अपने काम में बाधक व्यक्ति की हिंसा करने में भी नहीं हिचकता है।

• महासती मदनरेखा के अद्‌भुत रूप और लावण्य में मुग्ध बने मणिरथ ने अपने ही छोटे भाई युगबाहु की हत्या कर दी थी।

• महासती सीता के रूप में मुग्ध बने रावण ने जंगल से सीता का अपहरण कर लिया था।

• पर पुरुष में आसक्त बनी सूर्यकांता महारानी ने अपने ही पति प्रदेशी राजा को जहर का कटोरा पिला दिया था ।

• परपुरुष में मोहित बनी चुलनी माता ने अपने ही पुत्र ब्रह्मदत्त के महल में आग लगा दी थी ।

अर्थार्जन के मुख्य पाप भी मुख्यतया कामवासना की पूर्ति के लिए ही होते हैं ।

काम यह साध्य पुरुषार्थ है ।

अर्थ यह साधन पुरुषार्थ है ।

जो व्यक्ति अपने जीवन में से मैथुन का त्याग कर देता है, उस व्यक्ति को जीवननिर्वाह के लिए कम-से-कम धन की आवश्यकता रहती है ।

आज व्यक्ति ज्यादा-से-ज्यादा धन कमाना चाहता है । धन के पीछे वह पागल है । येन केन उपाय से वह धन पाना चाहता है, उस धन-प्राप्ति का उद्देश्य जीवन-निर्वाह का नहीं होता है, बल्कि अर्थार्जन के बाद ज्यादा से ज्यादा मौज-मजा करने का ही होता है ।

धन के लोभ में अंधे बने व्यक्ति को न्याय-नीति नहीं दिखती है । वह धन कमाने के लिए हिंसा, झूठ और चोरी का आश्रय लिये बिना नहीं रहता है ।

आज व्यक्ति पहले धन कमाने के लिए अनेक प्रकार के पापाचरण करता है, फिर धन कमाने के बाद होटल-क्लबों में जाकर अनेक प्रकार के पापाचरण करता है ।

जैन शासन में मैथुनसेवन और परिग्रह को पाप ही माना गया है ।

जैन शासन की भागवती दीक्षा अंगीकार करने के साथ ही प्रत्येक साधु-साध्वीजी जीवन भर के लिए मैथुन और परिग्रह का सर्वथा त्याग करते हैं ।

श्रावक-श्राविका भी प्रतिदिन प्रतिक्रमण में मैथुन और परिग्रह को पाप के रूप में स्वीकार करते हैं और उस संबंधी हुए पापों के लिए भी **'मिच्छा मि दुक्कड़म्'** देते हैं ।

अर्थ और काम दोनों आत्मा को संसार में भटकानेवाले हैं ।

आत्मा को अपने स्वरूप में रमण करने के लिए न धन की आवश्यकता रहती है न काम की ।

अर्थ और काम ये दोनों आत्मा की विभाव दशाएँ हैं । अर्थ और काम, दोनों आत्मा से भिन्न हैं, अतः परभाव में, पौद्‌गलिक-भाव में रमणता करने से आत्मा की विस्मृति ही होती है ।

आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने के लिए तारक महावीर प्रभु ने अर्थ और काम को त्याज्य पुरुषार्थ के रूप में गिना है अर्थात् देवों को भी दुर्लभ ऐसे मानवजन्म को सफल और सार्थक बनाना हो तो इस जीवन में अर्थ और काम को सर्वथा तिलांजलि देनी होगी ।

नाम के पुरुषार्थ, काम के नहीं

मैं जामनगर में एक उपाश्रय में ठहरा हुआ था । वहाँ 60 वर्षीय एक भाई हमेशा उपाश्रय में ही सोते थे, एक दिन मैंने उनसे पूछा, क्या आपको दीक्षा की भावना है ?

उस भाई ने कहा, **''दीक्षा की भावना तो नहीं है ।''**

'तो फिर उपाश्रय में क्यों सोते हो ? परिवार में कोई है या नहीं ?'

उसने कहा, **''महाराज साहब ! नाम के तो सात बेटे हैं, परंतु काम का एक भी नहीं है ।''**

उस भाई के इस जवाब को सुनकर मैं स्तब्ध हो गया । अहो ! सात-सात बेटों का बाप है, फिर भी कोई उन्हें अपने घर में रखने के लिए राजी नहीं है ।

वीर प्रभु का संदेश है 'अर्थ और काम नाम के ही पुरुषार्थ हैं, काम के नहीं । ये पुरुषार्थ तो आत्मा के लिए महा अनर्थकारी हैं ।

भूतकाल में अपनी आत्मा ने इन पुरुषार्थों के पीछे अपनी बहुतसी शक्ति का व्यय किया है, परिणामस्वरूप आत्मा को कुछ भी फायदा नहीं हुआ है । बल्कि आत्मा को दुर्गति में ही भटकना पड़ा है ।

अर्थ और काम की गुलाम बनी आत्मा संसार में जहाँ-तहाँ भटकती है जबकि अर्थ और काम की विजेता आत्मा सर्वत्र विजयश्री प्राप्त करती है और अंत में शाश्वत अजरामर मोक्षपद की भोक्ता बनती है ।

शाश्वत पद पाना है तो अर्थ और काम का सर्वथा त्याग करना होगा । इस जीवन में यदि सर्वथा त्याग संभव न हो तो कम-से-कम अर्थ और काम की गुलामी तो छोड़नी ही होगी । उन पर अंकुश तो लगाना ही होगा ।

भावना रखें कि इस जीवन में नहीं तो अगले जन्मों में मेरी आत्मा अर्थ-काम के चंगुल से सर्वथा मुक्त बने ।

उसके बाद प्रभु ने कहा—

'अर्थस्तु मोक्ष एवैको, धर्मस्तस्य च कारणम् ।
संयमादिर्दशविधः संसाराम्भोधितारणः ।।

एक मात्र मोक्ष ही सच्चा और वास्तविक पुरुषार्थ है ।

मोक्ष में क्यों जाना है ?

क्योंकि मोक्ष में ही जीवात्मा की सभी इच्छाएँ पूर्ण होती हैं ।

(1) जीवात्मा की सबसे पहली इच्छा जीने की है:

सदाकाल जीवन जीने की इच्छा होने पर भी संसारी जीव को बारबार मरना पड़ता है । जितना आयुष्य बाकी होता है, तब तक संसारी जीव जी सकता है, आयुष्य पूरा होते ही उसे मरना पड़ता है ।

जीने की लाख-लाख इच्छा होते हुए भी आयुष्य पूरा होते ही अपना देह छोड़ना पड़ता है । कई लोग जीवन जीने के लिए लाख-लाख कोशिश करते हैं । अनेक औषध-उपचार करते हैं । मंत्र-तंत्र का आलंबन लेते हैं । कीमती इंजेक्शन लेते हैं, फिर भी उन्हें अवश्य मरना पड़ता है ।

जन्मा हुआ बालक, जिसने अभी तक अपनी माँ का मुँह भी नहीं देखा है, इस फानी दुनिया को छोड़कर चला जाता है । आखिर क्यों ? क्योंकि आयुष्य पूरा हो चुका है ।

अपने एक श्वासोच्छ्वास में निगोद के जीव को 17 बार मरना पड़ता है ।

आप लोगों की एक सामायिक होती है और उसमें निगोद के जीव के 65536 भव हो जाते हैं ।

संसार में जन्म की पीड़ा का भी कोई पार नहीं है और मृत्यु की पीड़ा का भी कोई पार नहीं है ।

मोक्ष में जन्म नहीं, वृद्धावस्था नहीं, मृत्यु की वेदना नहीं एक मात्र जीवन है और वह भी सदा के लिए ।

2) जीवात्मा की दूसरी इच्छा सुखप्राप्ति की है: संसार में सभी जीवों की इच्छा सुख पाने की है, परंतु संसार में जीवात्मा की यह इच्छापूर्ति होती नहीं है ।

संसार में सुख का नामोनिशान नहीं है और दुःख का पार नहीं है । नरक गति में परमाधामियों की पीड़ा, तिर्यंच गति में भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी की पीड़ा, मानव जीवन में शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, पारिवारिक और सामाजिक दुःखों का पार नहीं है ।

मानव देह के साथ भी अनेक रोग जुड़े हैं, अतः सुख का नाम नहीं है ।

देवगति में भौतिक सुख है, परंतु उस सुख का भी एक दिन अन्त आ जाता है । अमाप भौतिक सुख भोगनेवाले देवताओं को गर्भावास की भयंकर पीड़ा सहन करनी पड़ती है । देवताओं को भी अगले जन्म में एकेन्द्रिय आदि की पीड़ा सहन करनी पड़ती है ।

सारा संसार दुःखों से भरा हुआ है, जबकि मोक्ष में दुःख का लेश भी नहीं है । मोक्ष अनंत सुखों से भरपूर है ।

जीवात्मा की सुख पाने की इच्छापूर्ति मोक्ष के सिवाय कहीं संभव नहीं है ।

3) जीवात्मा की तीसरी इच्छा स्वतंत्र रहने की है : हर आत्मा को स्वतंत्रता पसंद है, बंधन या गुलामी किसी को पसंद नहीं है ।

संसार में सर्वत्र पराधीनता है । चौदह राजलोक में रहे सभी जीव कर्म के गुलाम हैं । उस गुलामी के कारण नाना प्रकार की पीड़ाएँ सहन करनी पड़ती हैं । मनुष्य भव में सेठ आदि की गुलामी है । तिर्यंच के भव में मालिक की गुलामी है । देव भव में भी कर्म की गुलामी तो है ही ।

संपूर्ण स्वतंत्रता एक मात्र मोक्ष में है । मोक्ष का अर्थ है हर तरह से छुटकारा । बंधन-मुक्ति का नाम ही मोक्ष है ।

(4) जीवात्मा की चौथी इच्छा ज्ञानप्राप्ति की है :

जीव मात्र में ज्ञानप्राप्ति की अभिलाषा रही होती हैं । परंतु संपूर्ण ज्ञान की प्राप्ति केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद ही होती है । मुक्तात्मा में केवलज्ञान रहा होता है । अज्ञानता के कारण ही संसारी जीव जहाँ-तहाँ दुःख पाता है ।

मोक्ष का उपाय दशविध यति धर्म का पालन :

संसार से मुक्त होकर यदि मोक्ष पाना है तो उसके लिए संयम आदि या क्षमा आदि दश प्रकार के यतिधर्म का पालन करना होगा ।

इस यतिधर्म की आराधना कर भूतकाल में अनंत आत्माओं ने अजरामर मोक्षपद प्राप्त किया है और भविष्य में भी इसी धर्म की आराधना कर अनंत आत्माएँ मोक्ष पद प्राप्त करेंगी ।

हस्तिपाल राजा के स्वप्न और फलादेश :

महावीर प्रभु की अंतिम देशना चालू ही थी, इसी बीच पुण्यपाल राजा ने खड़े होकर प्रभु को कहा, **''हे प्रभो ! आज रात्रि में मैंने विचित्र प्रकार के आठ स्वप्न देखे हैं तो उन स्वप्नों का क्या विशेष फल होगा ? इन स्वप्नों को देखकर मैं घबरा गया हूँ ।''**

यद्यपि ये सभी स्वप्न पुण्यपाल राजा ने देखे थे, परंतु उन स्वप्नों का फल सिर्फ पुण्यपाल राजा को ही होनेवाला नहीं था ।

महावीर प्रभु ने अपने ज्ञान के बल से देखा, **''यद्यपि ये स्वप्न पुण्यपाल राजा ने देखे हैं, परंतु इन स्वप्नों के फल का संबंध पुण्यपाल से नहीं है । ये सभी स्वप्न मेरे द्वारा स्थापित शासन को प्रभावित करनेवाले हैं ।''**

सामान्यतया जो व्यक्ति स्वप्न देखता है, उस स्वप्न का फल उस व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करनेवाला होता है, परंतु यहाँ स्वप्न तो पुण्यपाल ने देखे हैं, परंतु उन स्वप्नों का प्रभाव शासन पर पड़नेवाला है, अतः सभी के हित के लिए प्रभु ने उन स्वप्नों का फलादेश संघ समक्ष किया ।

पहला स्वप्न-हाथी

'विवेकवन्तो भूत्वापि हस्तितुल्या अतः परं ।
वत्स्यन्ति श्रावका लुब्धाः क्षणिकर्द्धि सुखे गृहे ।।
न दौस्थ्ये परचक्रे वा, प्रव्रजिष्यन्त्युपस्थिते ।
आत्तामपि परिव्रज्यां, त्यक्ष्यन्ति च कुसङ्गतः ।।
विरला पालयिष्यन्ति कुसङ्गेऽपि व्रतं खलु ।
इदं गजस्वप्नफलं, कपिस्वप्नफलं त्वदः ।।

पुण्यपाल राजा ने पहले स्वप्न में देखा कि जीर्णशाला में कुछ हाथी रहे हुए हैं । महावत उन हाथियों को तीनों ऋतु में अनुकूल ऐसी नयी शाला में ले जाना चाहता है, परंतु वे हाथी जीर्णशाला को छोड़ने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं हैं, कुछ हाथी जीर्णशाला को छोड़कर नई शाला में चले तो गए हैं परंतु वे भी वहाँ से वापस लौटकर पुनः जीर्णशाला में आ रहे हैं ।

फलादेश : हाथी बुद्धिशाली प्राणी कहलाता है, उसे महावत जिस ढ़ंग की शिक्षा देता है, वह उसे आसानी से स्वीकार लेता है । इस स्वप्न का फलादेश श्रावकों के जीवन को प्रभावित करता है ।

हाथी की तरह श्रावकसंघ भी महाबुद्धिशाली है । जिस प्रकार हाथी महाव्रत के इशारे पर चलता है, उसी प्रकार श्रावक संघ भी सद्‌गुरुओं के निर्देशानुसार प्रवृत्ति करता है ।

प्रभु ने कहा, ``भविष्यकाल में सद्‌गुरु श्रावकों को संयम मार्ग में चलने के लिए प्रेरणा करेंगे, परंतु क्षणिक ऋद्धि में तीव्र आसक्ति होने

के कारण वे श्रावक, संयम मार्ग पर चलने के लिए शीघ्र तैयार नहीं हो पाएंगे ।''

पंचमकाल में वैराग्य के निमित्त सुलभ, फिर भी वैराग्य दुर्लभ

पाँचवें आरे का नाम ही दुषम काल है । इस काल में सर्वत्र दुःख की बहुलता है । वर्तमान संसार में सुखी अल्प और दुःखी ज्यादा हैं । फिर भी आश्चर्य है कि पंचम काल के जीवों को वैराग्य सुलभ नहीं होगा ।

संसार के भौतिक सुखों का एक ऐसा नशा है कि उस में पागल बने व्यक्ति को तुरंत वैराग्य नहीं होता है । चौथे आरे में सुख ज्यादा था और दुःख कम था, अतः उनको वैराग्य दुर्लभ था ।

सामान्यतया सुख के नहीं, बल्कि दुःख के निमित्तों को पाकर जीवात्मा को जल्दी वैराग्य हो जाता है ।

इस पंचम काल में तो कदम-कदम पर दुःख के पर्वत खड़े हैं । जहाँ देखो, वहाँ अकाल मृत्यु, भयंकर रोग का आगमन...निकट के स्वजन द्वारा ही धोखेबाजी, विश्वासघात आदि के प्रसंग कदम-कदम पर देखने-पढ़ने व सुनने को मिलते हैं, परंतु आश्चर्य है कि चारों ओर दुःख से घिरे होने पर भी क्षणिक व तुच्छ सुख की प्राप्ति और उनमें रही आसक्ति के कारण संसारी जीव उन सुखों को त्यागकर संयममार्ग को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हो पाता है ।

वर्तमान काल के जीवों की ऋद्धि-सिद्धि और समृद्धि कितनी क्षणिक है ! कल के समृद्ध आज भिखारी हालत में दिखाई देते हैं । कल का हट्टाकट्टा व्यक्ति आज I.C.U. में स्पेशियल ट्रीटमेंट ले रहा दिखाई देता है ।

समृद्ध बंगले में रहने वाले भी भूकंप के कारण धराशायी होते दिखाई देते हैं ।

संसारी जीवों की ऋद्धि अत्यंत क्षणिक होने पर भी उस ऋद्धि में रही तीव्र आसक्ति के कारण उसका त्याग उनके लिए असंभव प्रायः ही होगा ।

''नयीशाला में प्रवेश करने के बाद भी कई हाथी वापस जीर्णशाला में लौट आए' इस घटना का फलादेश करते हुए प्रभु ने कहा-'कई श्रावक क्षणिक ऋद्धि का त्याग कर एक बार उत्साह में आकर संयम जीवन को स्वीकार कर लेंगे, परंतु कुछ समय बाद पुनः उन्हें संसार के क्षणिक सुखों का आकर्षण हो जाएगा, इस कारण संयम को छोड़कर पुनः संसार में आ जाएंगे ।''

सारांश यह है कि 1) पंचम काल में श्रावकों के पास अल्प ऋद्धि होगी, परंतु उस अल्प ऋद्धि में भी आसक्ति अधिक होगी ।

2) जीवन में दुःख की बहुलता होने पर भी संसार के त्याग रूप संयम का मार्ग पसंद नहीं पड़ेगा ।

3) उत्साह में आकर दीक्षा तो ले लेंगे, परंतु कुछ समय बाद चारित्र के परिणाम पतित हो जाएंगे । अवसर देखकर कई, दीक्षा का त्याग भी कर देंगे ।

4) पंचम काल की ऐसी विचित्र स्थिति में भी कुछ ऐसे विरले व्यक्ति होंगे जो विकट परिस्थिति में भी दृढ़ता पूर्वक ग्रहण किये चारित्र धर्म का पालन करेंगे ।

बंदर स्वप्न का फल

'प्रायः कपिसमाः लोलपरिणामाऽल्पसत्त्वकाः ।
आचार्यमुख्याः गच्छस्थाः प्रमादगामिनो व्रते ।।
ते विपर्यासयिष्यन्ति धर्मस्थानितरानपि ।
भाविनो विरला एक धर्मोद्योगपराः पुनः ।।
धर्मश्लथेषु ये शिक्षां प्रदास्यन्त्यप्रमादिनः ।
ते तैरुपहसिष्यन्ते, ग्राम्यैर्ग्रामिस्थ पौरवत् ।।

इत्थं प्रवचनावज्ञातः परं हि भविष्यति ।
प्लवंगमस्वप्न फलमिदं जानीहि पार्थिव ।।

पुण्यपाल राजा ने दूसरे स्वप्न में बंदर देखा था । बंदर में चपलता-चंचलता होती है । वह किसी ड़ाल पर स्थिर होकर नहीं बैठता । कभी इधर भागता है तो कभी उधर । कभी उधर देखता है तो कभी इधर ।

बंदर में दूसरा दुर्गुण है-वह अल्प सत्त्ववाला होता है । वह सत्त्वशाली नहीं होता है ।

इस स्वप्न का फलादेश बताते हुए वीर प्रभु ने कहा, **''भविष्य में गच्छ के नायक ऐसे आचार्य आदि भी व्रतपालन में प्रमादी बनेंगे । वे चंचल परिणामवाले और सत्त्वहीन होंगे । वे धर्म में रहे धर्मी लोगों को भी विचलित कर देंगे और व्रतों के पालन में भी प्रमादी होंगे ।''**

काल के प्रवाह से यह विचित्र स्थिति हमें प्रत्यक्ष देखने को मिलती है ।

जैन मत के नाम पर आज कई मतान्तर निकल पड़े हैं । कोई स्त्री की मुक्ति ही नहीं मानते हैं और संयम के उपकरणों को भी परिग्रह मानकर उनका भी त्याग कर देते हैं ।

कोई परमात्मा के स्थापना-निक्षेप का विरोध करते हैं । कोई निश्चय नय को पकड़कर व्यवहार नय की सर्वथा उपेक्षा कर रहे हैं ।

कोई जिनवचन के विरुद्ध इलेक्ट्रिक लाइट को भी अचित्त मान रहे हैं ।

इस प्रकार जो नामधारी आचार्य होंगे वे जिनमत का भयंकर नुकसान करेंगे ।

परंतु कुछ विरले ऐसे आचार्य भी होंगे, जो व्रतपालन में अत्यंत ही दृढ़ होंगे ।

दृढ़ता पूर्वक व्रत का पालन करनेवाले जब शिथिलव्रतधारियों को प्रेरणा करेंगे तो उस प्रेरणा को स्वीकार करने के बजाय वे उसका प्रतिकार ही करेंगे ।

जिस प्रकार ग्रामीण लोग, शहरीजनों का उपहास करते हैं उसी प्रकार आचारपालन में शिथिल साधु भी दृढ़ व्रतधारियों का उपहास करेंगे ।

तीसरा स्वप्न क्षीर वृक्ष

'क्षीरद्रुतुल्याः सुक्षेत्रे दातारः शासनार्चकाः ।
श्रावकास्ते तु रोत्स्यन्ते, लिङ्गिभिर्वंचनापरैः ।।
तेषां च प्रतिभास्यन्ति सिंहसत्त्वभृतोऽपि हि ।
महर्षयः सारमेया इवासारमतिस्पृशाम् ।।
आदास्यन्ते सुविहितविहार क्षेत्र पद्धतिं ।
लिङ्गिनो बब्बूल समाः क्षीरद्रूफलमीदृशम् ।।

पुण्यपाल राजा ने तीसरे स्वप्न में क्षीर वृक्ष देखा, जिसके चारों ओर काँटें लगे हुए थे ।

वीर प्रभु ने इस स्वप्न का फलादेश करते हुए कहा, ``भविष्य में शासन के प्रति वफादार ऐसे कई सुश्रावक पैदा होंगे, जो खूब उदार होंगे, अच्छे क्षेत्रों में दान देने की भावनावाले होंगे, परंतु उन दाताओं को भी लिंग- धारी साधु घेर लेंगे । धन-समृद्धि, बाह्य वैभव और उदारता गुण होने पर भी उन श्रावकों में सुसाधु और कुसाधु को पहिचानने की शक्ति नहीं होगी ।''

साधु का वेष होने पर भी जिनका आचार, विचार और व्यवहार साधु जैसा नहीं होता है, उसे लिंगधारी या लिंगी साधु कहते हैं ।

सुसाधु और लिंगधारी साधु दोनों का बाह्य वेष एक समान होने के कारण बाल जीव उनके वास्तविक भेद को पहिचान नहीं पाते हैं ।

सामान्यतया बाल जीव तो साधु के बाह्य वेष को देखकर ही आकर्षित हो जाते हैं । वे साधु के वास्तविक स्वरूप से लगभग अनभिज्ञ ही होते हैं, परीक्षा करने में निपुण नहीं होने के कारण वे बाल जीव जल्दी ठगे जाते हैं ।

साधु वेष में रहते हुए जिन्हें साधुता से प्रेम नहीं हैं, ऐसे साधु, उन भद्रिक जीवों को जल्दी ठग लेते हैं ।

काल के प्रभाव से शिथिलाचारी साधुओं का इतना अधिक जोर बढ़ जाएगा कि सुसाधुओं को भी बहुत कुछ सहन करना पड़ेगा । अच्छे साधुओं को भी शिथिल साधुओं की आज्ञा आदि में रहना पड़ेगा ।

जगदगुरु हीरसूरिजी म. के कुछ वर्षों बाद शिथिलाचार का जोर खूब बढ़ गया था । वे साधु मठाधीश जैसे बन गए थे । उनका पाद-विहार आदि बंद हो गया था । एषणा समिति आदि का बिल्कुल पालन नहीं करते थे । फिर भी उनका वेष तो साधु जैसा ही रहता था ।

बाल जीव साधु और लिंगधारी के भेद को पहिचान नहीं पाते थे, अतः बीच के काल में साधु की पहिचान के लिए एक पीले वस्त्र का परिधान चालू हुआ था । धीरे धीरे यतियों का जोर घट गया, अतः लगभग साधु समुदाय में पीले वस्त्र का परिधान बंद कर दिया गया ।

दान देने में उदार होने पर भी तुच्छ बुद्धि के कारण उन श्रावकों को सिंहसमान धैर्यवाले साधु महात्मा भी श्वान समान प्रतीत होंगे ।

जिस प्रकार स्वप्न में क्षीरवृक्ष को काँटों ने घेर लिया था, उसी प्रकार उदार श्रावकों को लिंगधारी साधु घेर लेंगे । दुनिया में सर्वत्र दुर्जनों का जोर चलेगा, सज्जन पुरुषों को तो सर्वत्र सहन ही करना पड़ेगा ।

चौथा स्वप्न-कौआ

'धृष्टस्वभावा मुनयः प्रायो धर्मार्थिनोऽपि हि ।
रंस्यन्ते नहि गच्छेषु दीर्घिकाम्भस्विव द्विकाः ।।
ततोऽन्यगच्छिकैः सूरिप्रमुखैर्वंचनापरैः ।
मृगतृष्णानिभैसार्धं चलिष्यन्ति जड़ाशयाः ।।
न युक्तमेभिर्गमनमिति तत्रोपदेशकान् ।
बाधिष्यन्ते नितान्तं ते, काकस्वप्न फलं ह्यदः ।।

कौए का एक विचित्र स्वभाव होता है, उसे शीतल जल से भरा हुआ तालाब, जहाँ अनेक प्रकार के कमल खिले हुए हैं, पसंद नहीं आता है, बल्कि जहाँ गंदा पानी होता है, कीचड़ होता है, ऐसा ही स्थान कौए को पसंद आता है ।

एक ओर आम का झाड़ हो और दूसरी ओर नीम का झाड़ हो तो कौआ आम के वृक्ष को छोड़कर नीम के झाड़ पर ही बैठेगा, उसे वहीं आनंद आएगा ।

बस, काल के प्रभाव से अच्छे साधुओं को भी अपने स्वयं के गुरु-गच्छ में रहने का मन नहीं होगा, बल्कि वे भी अन्य-गच्छ-समुदाय में जाने की इच्छा वाले होंगे । उस समय ठगने में तत्पर ऐसे अन्य गच्छवाले आचार्य आदि उन्हें प्रोत्साहन देंगे ।

अपने गच्छ को छोड़कर अन्य गच्छ में जानेवाले साधुओं को जब कोई सुसाधु प्रेरणा देते हुए कहेंगे कि ``एक स्त्री भी अपने स्वीकार किए पति का जिंदगी भर के लिए त्याग नहीं करती है तो तुम तो पुरुष होते हुए, अपने उपकारी गुरु और गच्छ का त्याग क्यों करते हो ?'' इस प्रकार सच्ची हितशिक्षा देने पर भी दुष्ट आशयवाले मुनि उस हितशिक्षा को स्वीकार नहीं करेंगे बल्कि हितशिक्षा देनेवालों का ही प्रतिकार करेंगे ।

काल के प्रभाव से, जगत् को सही राह दिखानेवाले की भी अच्छी बात पसंद नहीं पड़ेगी ।

जैसे सूअर को दूधपाक पसंद नहीं पड़ता है, उसे तो विष्ठा में ही मुँह ड़ालने का मन होता है, उसी प्रकार काल के प्रभाव से अच्छे मुनियों को भी अपने गुरुकुलवास में रहना पसंद नहीं पड़ेगा, वे स्वतंत्र जीवन जीने की ही चाहना करेंगे ।

कौए को आम्रवृक्ष और गधे को गन्ना पसंद नहीं, उसी प्रकार अयोग्य-अपात्र आत्माओं को हितशिक्षा पसंद नहीं पड़ती है ।

गुजराती में ठीक ही कहा है-

'सीख देता रीस चढ़े, भाग्यदशा परवारी ।'

भलाई की भावना से सामनेवाले को हितशिक्षा दी जाती है, परंतु वह हितशिक्षा भी जिसे पसंद नहीं पड़ती है, उसका तो अब भाग्य ही समाप्त हो गया, ऐसा समझना चाहिए ।

पाँचवाँ स्वप्न-सिंह

सिंहतुल्य जिनमत-जाति स्मृत्याद्यनूज्झितं ।
विपत्स्यतेऽस्मिन् भरतवने धर्मज्ञवर्जितः ।।
न कुतीर्थिक तिर्यंचोऽभिभविष्यन्ति जातु तत् ।
स्वोत्पन्नाः कृमिवत् किंतु, लिङ्गिनोऽ शुद्धबुद्धयः ।
लिङ्गिनोऽपि प्राक् प्रभावाद्, श्वापदाभैः कुतीर्थिकैः ।
न जात्वभिभविष्यन्ते, सिंहस्वप्नफलं ह्यदः ।।

जैन मत को सिंह तुल्य कहा गया है । जैसे सिंह जंगल का राजा कहलाता है, उसी प्रकार जैन धर्म सभी धर्मों में प्रधान है । सिंह खूब बलवान प्राणी है, अन्य सभी प्राणी उससे दूर ही भागते हैं ।

वीतराग प्रभु का शासन भी सिंह तुल्य है, अन्य सभी मत इस जैन मत का प्रतिकार करने में समर्थ नहीं हैं ।

आगे चलकर कहते हैं कि वह सिंह जंगल में मरा हुआ पड़ा है, फिर भी आश्चर्य है कि कोई अन्य पशु आकर उसके मृत देह को खाते नहीं हैं, अन्य पशु तो सिंह के मृत कलेवर को दूर से देखकर भी घबराते हैं, वे उसके पास में आने की हिम्मत भी नहीं करते हैं ।

वर्तमान समय में जैन मत रूपी सिंह मरा हुआ है अर्थात् वर्तमान समय में इस जैन मत में कोई सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी या चौदह पूर्वधर रूपी श्रुतकेवली या कोई पूर्वधर महर्षि भी नहीं है, जाति- स्मरण ज्ञान आदि भी देखने को नहीं मिलता है ।

जातिस्मरण ज्ञान आदि से रहित अर्थात् मृतप्रायः भी ऐसे जैन मत को अन्यमत किसी प्रकार का नुकसान करने में समर्थ नहीं है ।

परंतु जिस प्रकार मरे हुए सिंह के शरीर में पैदा हुए कीड़े ही

उस कलेवर का नाश करते हैं, बस, इसी प्रकार प्रभु के शासन को अन्य धर्मी जितना नुकसान नहीं पहुँचाएंगे, उससे भी ज्यादा नुकसान इसी जैन मत में पैदा हुआ नामधारी साधु और नामधारी श्रावक पहुंचाएंगे ।

आज जैन मत में कई कुमत पैदा हो गए हैं, जो जैन मत को भयंकर नुकसान पहुँचा रहे हैं ।

कहावत भी है **'घर का भेदी लंका ढ़ाए' 'घर फूटे घर जाय' ।**

जब घर का ही आदमी फूट जाता है, तब उस घर का नाश हुए बिना नहीं रहता है ।

◆ अपने हाथ में कुल्हाड़े को लेकर आते हुए मजदूर को देखकर जंगल के वृक्ष भयभीत होकर परस्पर बातें करने लगे, ``अब अपना विनाश नजदीक आ गया है ।''

किसी वृक्ष ने पूछा, **``तुम्हें कैसे मालूम पड़ा ?''** उसने कहा, ``यदि यह मजदूर सिर्फ कुल्हाड़े के साथ आया होता तो वह अपना कुछ भी नुकसान नहीं कर पाता, परंतु अपना ही घर फूट गया है । अपना ही साथी हाथे के रूप में उसके पक्ष में हो गया है । बस, इसी कारण अब अपनी बुरी हालत होने वाली है ।''

आज जैन धर्म को जितना खतरा बाहरवालों से नहीं है, उससे भी ज्यादा खतरा नामधारी जैनों से है ।

आज कई लोग अपने नाम के आगे जैन लिखते हैं और वे ही जैन धर्म और जैन सिद्धांतों के विरुद्ध आचरण करते हैं । बाहर के दुश्मन को पहिचानना तो भी आसान है, परंतु अंदर के दुश्मन को पहिचानना अत्यंत ही कठिन है ।

छठा स्वप्न-कमल

अब्जाकरेष्वम्बुजानि, सुगन्धीनीव देहिनः ।
धार्मिका न भविष्यन्ति, सञ्जाताः सुकुलेष्वपि ।।
अपि धर्मपरा भूत्वा, भविष्यन्ति कुसङ्गतः ।
ग्रामावकरकोत्पन्न-गर्दभाब्जवदन्यथा ।

कुदेशे कुकुले जाता, धर्मस्था अपि भाविनः ।
हीना इत्यनुपादेयाः, पद्मस्वप्नफलं ह्यदः ।।

पुण्यपाल राजा ने छट्ठे स्वप्न में कमलों से रहित कमलवन और गंदगी में पैदा हुए कमल को देखा ।

इस स्वप्न का फलादेश करते हुए महावीर प्रभु ने कहा, **'इस पंचम काल में अच्छे कुल में भी धार्मिक संतानें पैदा नहीं होगी ।'**

सरोवर में सुगंधी कमल पैदा होते हैं, उसी प्रकार अच्छे कुल में सुसंस्कारी संतानें पैदा होनी चाहिये । परंतु पंचम काल के प्रभाव से अब ऐसा नहीं होगा, बल्कि इससे विपरीत ही देखने को मिलेगा ।

माता-पिता खूब धार्मिक, दयालु और संस्कारी होंगे, परंतु उनके द्वारा पैदा हुई संतानों में धर्म के प्रति बिल्कुल रुचि नहीं होगी । `खाओ, पीओ और मोज मजा करो' Eat, drink and be merry की मनोवृत्ति उन संतानों में देखने को मिलेगी ।

उन्हें धर्म के अनुशासन, धर्म के नियम, धर्म के बंधन बिल्कुल पसंद नहीं होंगे ।

माता-पिता जिनवचन पर पूर्ण श्रद्धावाले होंगे जबकि उन्हीं की संतानें धर्मश्रद्धा से विमुख होगी । धर्म की बातों में वे कुतर्क पैदा करेगी ।

'कंदमूल के सुई जितने अग्रभाग में अनंत जीव होते है ।'
'रात्रि भोजन में असंख्य जीवों की विराधना रही हुई है ।' कच्चे पानी की एक बुंद में असंख्य जीव रहे हुए है ।

`यह संसार अनादि काल से है और अनंत काल तक रहेगा । देवलोक व नरक के जीवों का पग्योपम-सागरोपम जितना असंख्य वर्ष का आयुष्य है ।'

`कच्चे दूध-दही और छाछ के साथ दलहन या दलहन से बनी वस्तु का संयोग हो जाने पर असंख्य बेइन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति हो जाती है ।' ऐसी ऐसी अनेक बातें हैं जो एक मात्र आगम-प्रमाण से मान्य है

और श्रद्धागम्य है । आधुनिक शिक्षा प्राप्त अनेक व्यक्तियों का दिल, इन बातों का स्वीकार करने के लिए जल्दी तैयार नहीं हो पाता हैं ।

'जैन कुल जैसे उत्तम कुल में जन्म लेने पर भी जिनेश्वर के वचनों पर श्रद्धा न होना' यह सब काल की ही बलिहारी है ।

गंदगी में पैदा हुए कमल की भांति काल के प्रभाव से कई बार हल्के कुल में भी उत्तम और संस्कारी आत्माएँ पैदा हो जाएगी, परंतु उन आत्माओं का कुल हल्का होने के कारण वे सभी के लिए आदर पात्र नहीं बन पाएंगे ।

उकरड़ें में भी पैदा हुआ कमल सुगंधी और अच्छा होता हैं, परंतु गंदगी में पैदा हुए होने के कारण लोग में उसकी कींमत नहीं होती है, उसी प्रकार हल्के कुल में पैदा होने के कारण अच्छे व्यक्ति की भी कोई कींमत नहीं होगी ।

सातवां स्वप्न-बीज

'यथा फलायाबीजानि, बीज बुद्ध्योषरे वपेत् ।
तथा वप्स्पन्त्यकल्पानि कुपात्रे कल्पबुद्धितः ।।
यद्धा घुणाक्षरन्यायाद्यथा कोऽपि कृषीवलः ।
अबीजान्तर्गतं बीजं वपेत् क्षेत्रे निराशयः ।।
अकल्पान्तर्गतं कल्पमज्ञानाः श्रावकास्तथा ।
पात्रे दानं करिष्यन्ति बीजस्वप्न फलं ह्यदः ।।

पुण्यपाल राजा ने सातवें स्वप्न में देखा कि एक किसान सड़े हुए धान्य को अच्छा बीज समझकर उसे बंजर भूमि में बो रहा हैं । इसके परिणाम स्वरुप उसे कुछ भी फल नहीं मिल पा रहा हैं ।

इस स्वप्न का फलादेश करते हुए वीर प्रभु ने कहा, **'भविष्य में लोग किसी भी प्रकार के फल की कल्पना किए बिना और पात्र-अपात्र का विचार किए बिना कहीं भी दान कर देंगे ।'**

दान करना कोई बुरा नहीं हैं, लेकिन दान देते समय पात्र-अपात्र का विचार तो अवश्य करना चाहिये ।

बीज चाहे कितना ही अच्छा क्यों न हो परंतु उसे बंजर भूमि में बोया जाय तो वह निष्फल ही जाता है, उसका जो फल मिलना चाहिये, वह मिल नहीं पाता है। बस, इसी प्रकार दान देते समय पात्र-अपात्र का भी विचार अवश्य करना चाहिये।

आठवां स्वप्न-कुंभ

क्षमादिगुणपद्मांका-सुचरित्राम्बु पूरिताः।
रहस्या भाविनः कुम्भा इव स्तोका महर्षयः॥
श्लाथाचार-चरित्राश्च कलशा मलिना इव।
यत्र तत्र भविष्यन्ति, बहवो लिङ्गिनः पुनः॥
समत्सराः करिष्यन्ति कलहं ते महर्षिभिः।
उभयेषामपि तेषां साम्यं लोके भविष्यति॥
गीतार्था लिंगिनश्च स्युः साम्येन व्यवहारिणः।
जनेन ग्रहिलेनेवाग्रहंलिग्रहिलो नृपः॥

अर्थ : ``क्षमादिगुण रूप कमल से युक्त संयम रूपी पानी से भरे हुए अच्छे कुंभ के समान अच्छे साधु कम होंगे और उनका स्थान एकांत में होगा।'' जबकि आचार में शिथिल मलिन कुंभ के समान वेषधारी साधु ज्यादा होंगे और वे सर्वत्र होंगे।

ईर्ष्या के कारण वे वेषधारी साधु अच्छे साधुओं के साथ झगड़ा करेंगे, फिर भी लोक में यही छाप पड़ेगी कि दोनों झगड़ाखोर हैं।

कुवृष्टि के जलपान से पागल बनी प्रजा के बीच राजा को भी पागल बनना पड़े, इस प्रकार गीतार्थों को भी वेषधारी साधुओं की तरह वर्तन करना पड़ेगा।

आठवें स्वप्न में पुण्यपाल राजा ने देखा कि कमल से सुशोभित और जल से भरा हुआ घड़ा तो एक ओर कोने में पड़ा है, जबकि जो टूटा फूटा घड़ा है, लोग उसी को आदर सम्मान दे रहे हैं।

इस स्वप्न का फलादेश करते हुए कहा, ``पंचमकाल के प्रभाव

से आचारसंपन्न और गीतार्थ मुनियों का मान-सम्मान बहुत कम होगा। उन्हें एक ओर कोने में रहना पड़ेगा, जबकि जो आचारपालन में शिथिल होगा। ड़ोरा-धागा, मंत्र-तंत्र आदि करने में होशियार होंगे, उनका सर्वत्र आदर सम्मान बढ़ेगा।''

कभी-कभी प्रसंग आने पर ईर्ष्यावश वे शिथिल साधु चारित्र संपन्न गीतार्थ मुनियों के साथ झगड़ा भी कर देंगे। इस कलह को देखकर लोगों में अच्छे साधुओं की भी बदनामी होगी।

प्रसंग आने पर गीतार्थ मुनियों को भी वेषधारी शिथिल साधुओं के बीच बैठना पड़ेगा और उन्हें भी कुवृष्टि न्याय की भाँति उनकी तरह आचरण करना पड़ेगा।

कुवृष्टि न्याय

एक बार पृथ्वीपुर नगर में पूर्ण नाम का राजा राज्य करता था। उस राजा के सुबुद्धि नाम का होशियार मंत्री था।

एक दिन राजदरबार में किसी नैमित्तिक का आगमन हुआ। मंत्री ने भावीकाल के बारे में पूछा। नैमित्तिक ने कहा, **''एक मास के बाद जो वर्षा होगी, उस वर्षा का जल जो पीएगा वह पागल हो जाएगा। कुछ काल व्यतीत होने के बाद पुनः वर्षा होगी उस जल के पान से वे सभी स्वस्थ हो जाएंगे।''**

मंत्री ने राजा से बात की और राजा ने नगर में पटह बजवाकर यह घोषणा करवा दी कि निकट भविष्य में होनेवाली वर्षा का जल कोई नहीं पीए। सभी लोग भविष्य के लिए जल का संग्रह कर लें।

राजा की आज्ञा से सभी लोगों ने जल का संग्रह कर लिया। कुछ समय बाद लोगों का पहले संग्रह किया हुआ पानी समाप्त हो गया, अतः राजा और मंत्री को छोड़ सभी लोगों ने वर्षा का वह जल पी लिया। उस जलपान से राजा और मंत्री को छोड़ सभी लोग पागल हो गए।

सभी लोग पागलपन की चेष्टाएँ करने लगे, इधर उधर नाचने-कूदने लगे।

राजा और मंत्री ने उन सभी की पागलपन की चेष्टाओं को देखा । वे दोनों समझ गए कि यह सब उस जलपान का दुष्प्रभाव है ।

राजा और मंत्री को अपनी तरह नाचते हुए नहीं देख उन पागलों ने सोचा, **``राजा और मंत्री पागल हो गए हैं, अतः इन्हें हटाकर अपने उचित व्यक्ति को राजा और मंत्री बनाया जाय ।''**

वह कुशल मंत्री उन पागलों के भाव को समझ गया । उसने राजा को इशारा किया कि यदि हमें बचना है तो इन पागलों के बीच हमें भी पागलपन का नाटक करना होगा ।

बस, राजा मंत्री के इशारे को समझ गया । पागल नहीं होते हुए भी राजा और मंत्री अपने प्राण बचाने के लिए उन पागलों के साथ पागलपन की चेष्टाएँ करने लगे ।

राजा और मंत्री को अपनी तरह चेष्टाएँ करते हुए देख वे लोग सोचने लगे, **``राजा और मंत्री अब ठीक हो गए हैं ।''**

समय बीतने पर जब पुनः जल की वर्षा हुई तो उस जलपान से वे लोग पुनः ठीक हो गए ।

कथानक का उपनय यही है कि काल के प्रभाव से आचार में शिथिल साधुओं के प्रभाव से गीतार्थ व आचारसंपन्न साधु को भी दिखावा करना पड़ेगा ।'

पुण्यपाल को आए इन स्वप्नों के फलादेश सुनकर भाग्यशाली पुण्यपाल ने भागवती दीक्षा अंगीकार की । निर्मल चारित्र धर्म का पालनकर उसने शाश्वत अजरामर मोक्ष पद प्राप्त किया ।

प्रश्न और समाधान

श्री वीरप्रभु को नमस्कार कर गौतम स्वामी ने पूछा, ``हे प्रभो ! तीसरे आरे के अंत में ऋषभदेव प्रभु हुए और चौथे आरे में अजितनाथ आदि तेबीस तीर्थंकर हुए । अब पाँचवें आरे में इस भरत क्षेत्र में क्या स्थिति होगी ?''

गौतम स्वामी के मुख से इस प्रश्न को सुनकर वीर प्रभु ने कहा, **''मेरे निर्वाण के तीन वर्ष और साढ़े आठ महीने बीतने पर भरतक्षेत्र में पाँचवाँ आरा प्रारंभ होगा ।''**

''मेरे निर्वाण के 1114 वर्ष बीतने पर पाटलीपुत्र में कल्की नाम का राजा होगा । वह स्वभाव से अत्यंत ही क्रूर तथा क्रोधी होगा । नगर में रहे 5 स्तूपों को उखाड़कर वह अमाप धन प्राप्त करेगा । वह साधुओं के पास भी भोजन का छठा भाग टैक्स के रूप में मांगेगा ।

''साधुओं के समझाने पर भी वह नहीं मानेगा, उसके बाद नगर में भयंकर उत्पात होंगे । अंत में ब्राह्मण के वेष में आया इन्द्र उस कल्की राजा को थप्पड़ मारकर भूमि पर गिरा देगा । वह कल्की मरकर नरक में जाएगा ।''

''कल्कीपुत्र दत्त को जैन धर्म की शिक्षा देकर इन्द्र महाराजा विदाई लेंगे ।''

''अपने पिता के घोर पाप के फल और इन्द्र की शिक्षा को यादकर दत्त राजा पृथ्वी को जिनमंदिरों से अलंकृत कर देगा ।''

भरत क्षेत्र की भूत-भावी स्थिति

◆ अरिहंतों के अस्तित्वकाल में इस भरत क्षेत्र में गाँव, नगर जैसे थे और नगर स्वर्गतुल्य थे ।

गृहस्थ राजा तुल्य थे और राजा कुबेर की उपमावाले थे । आचार्य चंद्र तुल्य थे । पिता देवता तुल्य थे ।

सास माता समान थी । ससुर पिता समान थे ।

सामान्य प्रजाजन भी धर्म-अधर्म के विवेक से संपन्न देव और गुरु के पूजक सत्य व न्याय प्रेमी तथा स्वस्त्री में संतोष भाव धारण करनेवाले थे और राजा भी जिनभक्त थे ।

परंतु पाँचवें आरे में लोगों की स्थिति इससे विपरीत होगी ।

1) लोगों में क्रोध, मान, माया और लोभ आदि चार कषायों की बहुलता-प्रधानता होगी । वे अपनी मर्यादाओं को तोड़नेवाले होंगे ।

2) धीरे-धीरे लोगों में से अहिंसावृत्ति गायब होती जाएगी और लोग हिंसा-प्रेमी बनेंगे ।

3) ऐसी स्थिति में गांव श्मशान की भांति शून्य हो जाएंगे ।

4) राजा व सत्ताधीश भी खूब लोभी होंगे ।

5) सर्वत्र मत्स्य गलागल न्याय फैल जाएगा अर्थात् बलवान व्यक्ति अपने से कमजोर को हैरान करनेवाले होंगे ।

6) चोर लोग चोरी करके और राजा लोग टैक्स आदि द्वारा प्रजाजनों को खूब हैरान करेंगे ।

7) व्यापारी भी खूब लोभी होंगे और अधिकारी वर्ग भी खूब रिश्वत लेनेवाले होंगे ।

8) अधिकांश लोग अपने स्वार्थ को सिद्ध करने में तत्पर रहेंगे । लोग अपने स्वजन-कुटुंबीजनों का ही विरोध करनेवाले होंगे ।

9) शिष्य गुरु की आराधना-उपासना सेवा नहीं करेंगे । गुरु भी शिष्यों को श्रुतज्ञान का उपदेश नहीं करेंगे । इस प्रकार धीरे-धीरे गुरुकुलवास की व्यवस्था लुप्त हो जाएगी और शिष्य भी स्वच्छंदवृत्ति-वाले हो जाएंगे ।

10) अधिकांश लोग धर्म में मंदमतिवाले होंगे । धरती पर देवताओं का आगमन बंद हो जाएगा अर्थात् किसी को देव प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देंगे ।

11) संतान अपने उपकारी माता-पिता का अनादर करेगी, उनकी आज्ञाओं का पालन नहीं करेगी ।

12) पुत्रवधुएँ सर्पिणी की तरह क्रोधी होगी और सास कालरात्रि की तरह भयंकर विकराल बनेगी अर्थात् सास-बहू के संबंध टूट जाएंगे ।

13) कुलीन स्त्रियाँ भी लज्जा शील आदि गुणों से भ्रष्ट हो जाएगी ।

14) धर्मकार्यों में भी माया-कपट आदि का आश्रय लिया जाएगा ।

15) बाहर से सज्जन दिखनेवाले भी अंदर से तो दुर्जन ही होंगे ।

16) मंत्र-मणि-औषधि आदि का प्रभाव भी घट जाएगा । धन और आयुष्य की हानि होगी ।

17) लोगों की शुभभावनाएँ घटती जाएगी, इस प्रकार पाँचवें आरे में शुभ तत्त्वों की हानि और अशुभ तत्त्वों की वृद्धि होती जाएगी ।

इस प्रकार समय बीतने पर पुण्य की भी हानि होती जाएगी, ऐसी स्थिति में भी जिसके जीवन में धर्म के प्रति आदर भाव होगा और धर्म से प्रीति होगी, उसका जीवन सफल और सार्थक बनेगा ।

पाँचवें आरे के अंत में भरत क्षेत्र में दु:प्रसह नाम के आचार्य, फल्गुश्री नाम की साध्वी, नागिल नाम का श्रावक और सत्यश्री नाम की श्राविका होगी और विमलवाहन राजा होगा ।

उनकी ऊँचाई दो हाथ प्रमाण होगी और आयुष्य 20 वर्ष का होगा । दु:प्रसह आदि के लिए छट्ठ तप मुख्य माना जाएगा । उस समय 45 आगमों में से एक मात्र दशवैकालिक ही बच पाएगा । दुष्प्रसहसूरि तक भरतक्षेत्र में धर्म रहेगा । 12 वर्ष गृहस्थ जीवन में और 8 वर्ष चारित्र जीवन में रहकर अंत समय में अट्ठमतप द्वारा समाधि-मृत्यु प्राप्त कर वे सौधर्म देवलोक में उत्पन्न होंगे ।

उनके कालधर्म के बाद पूर्वाह्न में चारित्र का, मध्याह्न में राजधर्म का और संध्या समय अग्नि का भी नाश हो जाएगा । इस प्रकार यह पांचवा आरा पूर्ण होगा ।

छठे आरे की स्थिति

छठे आरे की स्थिति तो इससे भी अधिक भयंकर होगी । धर्म तत्त्व का नाश हो जाने से जगत् में हाहाकार मच जाएगा । माता-पुत्र आदि की व्यवस्था से रहित पशु की तरह लोगों का जीवन हो जाएगा ।

तीक्ष्ण पवन बहेगा । रात और दिन दोनों भयंकर हो जाएंगे । चंद्र की किरणें अतिशीतल होंगी तो सूर्य आग के गोले की तरह बरसेगा । लोगों में भी खूब कलह-क्लेश बढ़ जाएगा । लोगों में भयंकर पीड़ा करनेवाले रोग बढ़ते जाएंगे । जलचर प्राणी, स्थलचर प्राणी और खेचर प्राणियों का जीवन भी अत्यंत दु:खग्रस्त होगा ।

वनराजि का भी विनाश हो जाएगा । वैताढ्य पर्वत, ऋषभकूट और गंगा-सिंधु नदियों को छोड़कर सभी पर्वत व नदियाँ एक समान हो जाएंगे ।

पुरुष व स्त्रियों की ऊंचाई एक हाथ प्रमाण रह जाएगी । वे भी परस्पर अत्यंत ही कठोर व्यवहार करेंगे । एक दूसरे की मान-मर्यादा सर्वथा लुप्त हो जाएगी । काया रोगों से ग्रस्त बन जाएगी । स्त्रियाँ निर्लज्ज बनेगी ।

उस समय पुरुषों का आयुष्य बीस वर्ष और स्त्रियों का आयुष्य 16 वर्ष का हो जाएगा । स्त्रियाँ छह वर्ष की उम्र में ही गर्भ को धारण करने लग जाएगी और अत्यंत ही पीड़ा पूर्वक पुत्र को जन्म देंगी ।

मनुष्य वैताढ्य पर्वत के बिलों में वास करनेवाले होंगे । सभी मनुष्य मांसभक्षण में तत्पर व विवेक रहित होंगे । वे मनुष्य रात्रि में ही अपने बिल से बाहर निकलकर मछलियों को पकड़ लेंगे और दिन में सूर्य के ताप में उन्हें पकाकर रात्रि में उनका भक्षण करनेवाले होंगे ।

इस प्रकार की दयनीय और करुण स्थिति सभी 5 भरत और 5 ऐरावत क्षेत्रों में होगी ।

अवसर्पिणी काल में जैसा छठा आरा होगा, वैसा ही उत्सर्पिणी काल का पहला आरा होगा और अवसर्पिणी काल का जैसा पाँचवाँ आरा होगा, वैसा ही उत्सर्पिणी काल का दूसरा आरा होगा ।

उत्सर्पिणी काल के पहले दुषम दुषम आरे के अंत में 7-7 दिन तक 5 प्रकार की वर्षा होगी ।

सबसे पहले पुष्कर मेघ बरसकर भूमि को शांत करेगा, फिर क्षीर मेघ बरसेगा, जिससे पृथ्वी पर अनाज उत्पन्न होगा। उसके बाद घृत मेघ बरसेगा, जिससे भूमि में स्निग्धता उत्पन्न होगी। उसके बाद चौथा अमृतमेघ बरसेगा, जिससे भूमि में औषधियाँ पैदा होंगी। पाँचवाँ रस मेघ बरसेगा, जिससे पृथ्वी रसवाली बनेगी।

सर्वत्र वृक्ष, लता, हरियाली आदि देखकर बिल में रहने-वाले लोग बाहर आ जाएंगे और अंतःप्रेरणा से ही मांसाहार आदि छोड़ने लगेंगे।

ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होगा, त्यों त्यों मनुष्य के आयुष्य, रूप, बल, संघयण आदि में वृद्धि होती जाएगी। पवन, ऋतु, जलवायु, वातावरण आदि अनुकूल बनता जाएगा। क्रमशः मनुष्य व तिर्यंच भी रोगमुक्त बनते जाएंगे।

दूसरे आरे के अंत में भरत क्षेत्र में विमलवाहन आदि सात कुलकर पैदा होंगे। पहला कुलकर गाँव-नगर आदि की स्थापना करेगा। हाथी-घोड़े आदि का संग्रह करेगा। कला-शिल्प आदि का व्यवहार चालू होगा। लोग रसोई आदि पकाना चालू करेंगे।

उसके बाद शतद्वार नगर में संमुचि महाराजा की भद्रा नाम की महारानी की कुक्षि से श्रेणिक की आत्मा पद्मनाभ नाम के तीर्थंकर के रूप में जन्म लेगी। पद्मनाम पहले तीर्थङ्कर होंगे। उसके बाद भरत क्षेत्र में क्रमशः तेबीस तीर्थंकर और होंगे।

इसी प्रकार भरत क्षेत्र में दीर्घदंत आदि बारह चक्रवर्ती, नंदी आदि नौ वासुदेव और वर्धमान आदि नौ बलदेव, तिलक आदि नौ प्रतिवासुदेव पैदा होंगे।

भविष्य में उत्सर्पिणी काल में होने वाले सभी 63 शलाकापुरुषों का वर्णन किया। कार्तिक अमावस्या की रात्रि में अपने निर्वाण को जानकर प्रभु ने अपने ज्ञान से देखा, ``अहो ! गौतम के मन में मेरे प्रति

जो स्नेह है, वही उसके केवलज्ञान में अंतरायभूत है, अतः उस स्नेह को तुड़वाना चाहिए ।'' इस प्रकार ज्ञान से देखकर प्रभु ने गौतम को बुलाकर कहा, **''हे गौतम ! पास के गांव में देवशर्मा ब्राह्मण रहता है, उसको प्रतिबोध देकर आओ ।''**

अत्यन्त ही विनीत गौतम स्वामी ने प्रभु की आज्ञा शिरोधार्य की । उस समय उन्होंने अपने ज्ञान का उपयोग लगाकर नहीं देखा कि मैं वहाँ जाऊंगा और इधर प्रभु का निर्वाण हो जाएगा...और उस प्रसंग पर मैं उपस्थित नहीं रह पाऊँगा ।

सचमुच गौतम स्वामी पूर्ण आज्ञाकारी, विनीत और समर्पित शिष्य थे ।

भागवती प्रव्रज्या का यही तात्पर्य है कि शिष्य अपने मन, वचन और कायको गुरुचरणों में समर्पित करता है, इस मायने में गौतम स्वामी का समर्पण अपूर्व कोटि का था ।

`प्रभु की आज्ञा मेरे लिए शिरोधार्य है ।' बस, इसी एक विचार को सामने रखकर तत्काल गौतम स्वामी देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध देने के लिए चल पड़े ।

प्रभु का छट्ठ का तप चल रहा था । प्रभु ने पुण्य फल विपाक के 55 अध्ययन, पाप फल विपाक के 55 अध्ययन व अपृष्ट व्याकरण के 36 अध्ययन कहे ।

अपने आसन के कम्पन से प्रभु के निर्वाण समय को निकट जानकर सभी देव-देवेन्द्र अपने परिवार के साथ वहाँ पर आए ।

शक्रेन्द्र ने हाथ जोड़कर प्रभु को कहा, ``प्रभो ! आपका गर्भ, जन्म, दीक्षा व केवलज्ञान हस्तोत्तरा नक्षत्र में हुआ । इस समय उसमें भस्मक ग्रह संक्रांत होने वाला है । आपके जन्म नक्षत्र में संक्रांत यह भस्मक ग्रह 2000 वर्ष तक आपके संतानीय साधु-साध्वी को पीड़ा

पहुँचाएगा । अतः आप कुछ समय के लिए अपना आयुष्य बढ़ा दो तो आपकी पावनी दृष्टि से संक्रमित उस ग्रह का फल निष्फल हो जाएगा ।''

इन्द्र की यह बात सुनकर प्रभु ने कहा, **''हे शक्रेन्द्र ! आयुष्य को बढ़ाने में कोई समर्थ नहीं है । आगामी दुषमकाल के प्रभाव से तीर्थ को बाधा होने वाली है, उसमें भवितव्यता के अनुसार ही इस भस्मक ग्रह का उदय हुआ है ।''**

इस प्रकार शक्रेन्द्र को समझाकर साढ़े छह मास न्यून तीस वर्ष केवली पर्याय का पालन कर, पर्यंकासन में बैठकर बादर काययोग में रहकर प्रभु ने बादर मनोयोग व वचनयोग का रोध किया, फिर सूक्ष्म काययोग में रहकर प्रभु ने बादर काययोग का भी रोध कर लिया । उसके बाद वाणी व मन के सूक्ष्म योगों का रोध किया ।

उसके बाद पाँच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण जितने समय में शुक्ल ध्यान के द्वारा सर्व कर्मबंधनों से रहित होकर ऋजु गति के द्वारा एक ही समय में 7 राजलोक पारकर चौदह राज लोक के अग्रभाग पर पहुँच गए ।

प्रभु के मोक्षगमन के समय नरक के जीवों को भी क्षण भर के लिए सुख की प्रतीति हुई ।

प्रभु के मोक्षगमन के समय चन्द्र नाम का संवत्सर, प्रीतिवर्धन नाम का मास, नंदिवर्धन नाम का पक्ष व अग्निवेश नाम का दिन तथा सर्वार्थसिद्धि नाम का मुहूर्त था ।

प्रभु के निर्वाण के बाद अत्यन्त सूक्ष्म कुंथु आदि उत्पन्न हुए । 'अब संयम का पालन दुष्कर होगा' यह जानकर अनेक साधु-साध्वीजी ने अनशन व्रत स्वीकार किया ।

प्रभु के निर्वाण से भावदीप का विच्छेद जानकर सभी राजाओं ने द्रव्य दीपक प्रकट किए, तभी से लोक में दीपोत्सव का आरम्भ हुआ ।

उस समय अश्रुपूर्ण नेत्रों से देवताओं ने प्रभु के देह को प्रणाम किया और स्वयं अनाथ की भाँति खड़े रहे । उसके बाद धैर्य धारण कर शक्रेन्द्र ने देवताओं के द्वारा नंदनवन आदि से चंदन के काष्ठ मंगाए और एक चिता की रचना की । क्षीर सागर के जल से प्रभु के शरीर को स्नान कराया । इन्द्र ने अपने हाथों से प्रभु के देह पर विलेपन किया । फिर दिव्य वस्त्र पहिनाकर प्रभु के देह को शिविका में स्थापित किया । बाद में इन्द्रों ने वह शिविका उठाई । देवताओं ने जय-जय ध्वनि की और पुष्पों की वृष्टि की । वाद्य-यंत्र बजाए ।

उसके बाद इन्द्र ने प्रभु के देह को चिता पर स्थापित किया । अग्निकुमारों ने अग्नि प्रज्वलित की और उसे प्रदीप्त करने के लिए वायुकुमारों ने वायु फैलाया । थोड़ी ही देर में प्रभु का देह पंचभूत में विलीन हो गया ।

उसके बाद मेघकुमार देवों ने क्षीरसागर के जल से चिता शांत की । शक्र व ईशान इन्द्र ने प्रभु की ऊपर की दक्षिण व वाम दाढ़ाएँ लीं तथा चमरेन्द्र व बलीन्द्र ने नीचे की दाढ़ाएँ ग्रहण कीं । अन्य देवता दाँत-अस्थि आदि ले गए । उसके बाद देवताओं ने उस स्थान पर रत्नमय स्तूप बनाया ।

वीर-प्रभु का निर्वाण महोत्सव पूर्ण करके इन्द्र आदि नंदीश्वर द्वीप पर गए और वहां अष्टाह्निक-महोत्सव किया ।

नोट

नोट

जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर, मरुधररत्न, पू.आ. श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. द्वारा मुख्यतया हिन्दी भाषा में आलेखित 247 पुस्तकों में से उपलब्ध एवं अवश्य पठनीय साहित्य-सूची

Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य	Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य
1.	चिंतन का अमृत-कुंभ	80/-	41.	भव आलोचना	10/-
2.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-1)	100/-	42.	बीसवी सदी के महान योगी	300/-
3.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-2)	100/-	43.	परम-तत्व की साधना भाग-3	160/-
4.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-3)	125/-	44.	आध्यात्मिक पत्र	60/-
5.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-4)	135/-	45.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-1	125/-
6.	आओ संस्कृत सीखें भाग-1	150/-	46.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-2	175/-
7.	आओ संस्कृत सीखें भाग-2	400/-	47.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-3	150/-
8.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-2	85/-	48.	श्री नमस्कार महामंत्र	180/-
9.	विवेकी बनो	90/-	49.	महामंत्र की अनुप्रेक्षाएँ	150/-
10.	प्रवचन-वर्षा	60/-	50.	नमस्कार मीमासा	150/-
11.	आओ श्रावक बनें !	25/-	51.	परमेष्ठि-नमस्कार	180/-
12.	व्यसन-मुक्ति	100/-	52.	आठ कर्म निवारण पूजाएं	200/-
13.	श्रावक जीवन दर्शन	250/-	53.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-1	200/-
14.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (41 से 57)	275/-	54.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-2	200/-
15.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (58 से 80)	280/-	55.	सज्झायों का स्वाध्याय	100/-
16.	सात वासुदेव-प्रतिवासुदेव बलदेव	50/-	56.	वैराग्य-वाणी	140/-
17.	समाधि मृत्यु	80/-	57.	सम्यग्दर्शन का सूर्योदय	160/-
18.	Pearls of Preaching	60/-	58.	श्रमण क्रिया के मुख्य सूत्र	200/-
19.	New Message for a New Day	600/-	59.	कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन	240/-
20.	Panch Pratikraman Sootra	100/-	60.	पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन	120/-
21.	अमृत रस का प्याला	300/-	61.	आओ ! पर्युषण प्रतिक्रमण करें !	150/-
22.	ध्यान साधना	40/-	62.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	80/-
23.	शत्रुंजय यात्रा (तृतीय आवृत्ति)	40/-	63.	मन के जीते जीत है	80/-
24.	प्रेरक-प्रवचन	80/-	64.	प्रातः स्मरणीय महापुरुष भाग-1	300/-
25.	जीव विचार विवेचन	100/-	65.	प्रातः स्मरणीय महापुरुष भाग-2	300/-
26.	नवतत्त्व विवेचन	110/-	66.	प्रातः स्मरणीय महासतियाँ भाग-1	280/-
27.	दंडक सूत्र विवेचन	90/-	67.	प्रातः स्मरणीय महासतियाँ भाग-2	300/-
28.	लघु संग्रहणी	140/-	68.	इन्द्रिय पराजय शतक	150/-
29.	तीन भाष्य (हिन्दी विवेचन)	150/-	69.	संबोह-सित्तरि (वैराग्य का अमृत कुंभ)	160/-
30.	कर्मग्रन्थ (भाग-1)	160/-	70.	वैराग्य-शतक	140/-
31.	दूसरा कर्मग्रन्थ	55/-	71.	आनन्दघन चौबीसी विवेचन	200/-
32.	तीसरा कर्मग्रन्थ	90/-	72.	धर्म-बीज	140/-
33.	चौथा कर्मग्रन्थ	140/-	73.	45 आगम परिचय	200/-
34.	पाँचवाँ कर्मग्रन्थ	160/-	74.	नित्य देववंदन	निशुल्क
35.	छठा-कर्मग्रन्थ	210/-	75.	श्री भद्रंकर प्रश्नोत्तरी	170/-
36.	गणधर-संवाद	80/-	76.	अध्यात्मयोगी से प्रश्नोत्तर	160/-
37.	आओ ! उपधान पौषध करें !	55/-	77.	कोयंबत्तुर-प्रवचन	150/-
38.	मोक्ष मार्ग के कदम	120/-	78.	दक्षिण भारत प्रवचन	160/-
39.	विविध देववंदन	100/-	79.	पाण्डव-चरित्रम्	900/-
40.	संस्मरण	50/-	80.	महावीर-प्रभु की अंतिम देशना	220/-

पुस्तक प्राप्ति स्थान : दिव्य सन्देश प्रकाशन C/o. सुरेन्द्र जैन,
Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट,
कालबादेवी, मुंबई-400 002. M. 8484848451 (only whatsapp)

Kamal PRINTER'S
M. 9820530299